योग
गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर

ॐ

योग-रहस्य

उपदेष्टा
श्री श्री योगिराज गम्भीरनाथजी महाराज

व्याख्याता
श्री अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय

अनुलेखक
अध्यापक श्री रघुनाथ शुक्ल

प्रकाशक
श्री महन्त दिग्विजयनाथ ट्रस्ट
गोरक्षनाथ मन्दिर
गोरखपुर

प्राप्तिस्थान :—

मंत्री, महन्त दिग्विजयनाथ ट्रस्ट

गोरक्षनाथ मन्दिर

गोरखपुर

ट्रस्ट प्रकाशन माला का

पुष्प ७

मूल्य २५)
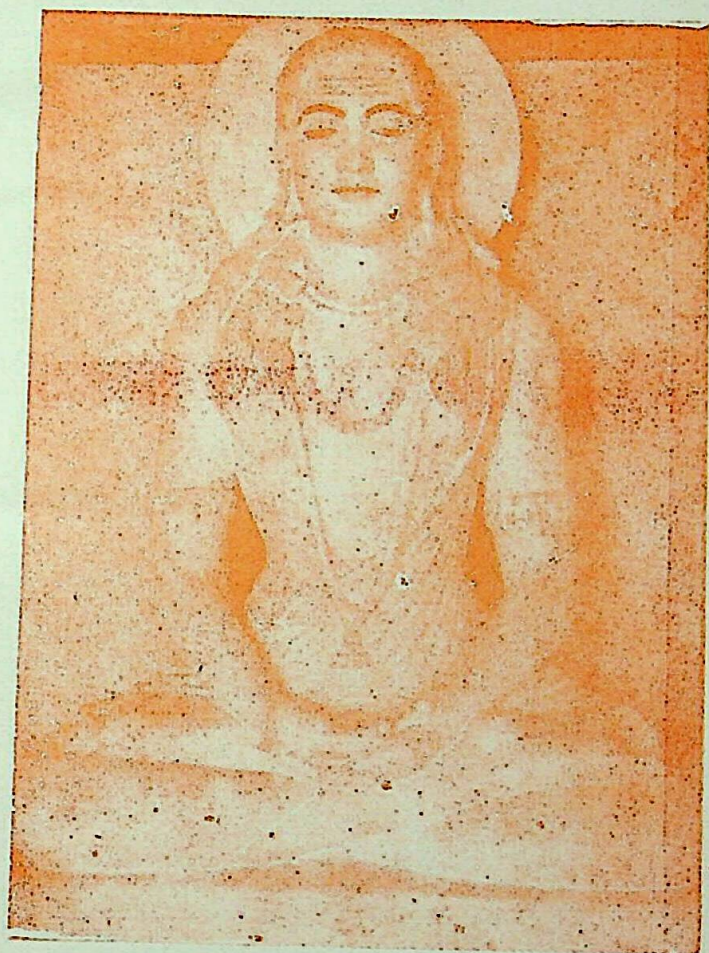
महायोगेश्वर श्रीश्रीगुरु गोरखनाथजी महाराज

श्री श्री योगिराजाष्टकम् ।

आजानुलम्बितभुजं सितकृष्णकेशम्
दीर्घायतारुणमृदुस्मितशोभिनेत्रम्
श्वेताम्बरावृत तनुं कनकावदातम्
आरक्तकोमलपदं नृवरं प्रपद्ये ।।१।।

सुकेशं सुवेशं सुनेत्रं सुवक्त्रम्
सुनासं सुहासं सुपाणिं सुपादम् ।
सुकर्णं सुवर्णं सुवाचं सुशीलम्
प्रपन्नोऽस्मि नाथं मनोहारिरूपम् ।।२।।

प्रसन्नदृष्ट्याखिलतापशोषणम्
वराभयार्थं धुतपाणिपल्लवम् ।
स्वपादपोतेन भवाब्धितारणम्
अनाथनाथं प्रणमामि सद्गुरुम् ।।३।।

जनस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुषः
चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये ।
प्रबोधनार्थं स्वकृपाविभासितम्
समाश्रयेऽहं गुरुदेवभास्करम् ।।४।।

स्वसुखनिभृतचित्तं तन्निरस्तान्यभावम्
स्वमहिमपरिपूर्णं सर्वकर्मप्रमुक्तम् ।
दलितसकलभेदं निर्विकारं प्रशान्तम्
त्यजनभजनहीनं योगिराजम् प्रपद्ये ।। ५ ।।

सृष्टिस्थानप्रलयकरणे त्वां क्षमं केचिदाहुः
साक्षाद्विश्वेश्वर इति तथा केचिदन्ये महान्त ।
मायातीतस्त्रीगुणरहितो युक्तयोगीति केचित्
जानेऽहं त्वामशरणगति किञ्चनान्यत्र जाने ।।६।।

ऐश्वर्यं ते महिमजलवैः संघृतान्तशक्तेः
विज्ञातुं कः कथमिह विभो शक्यते जीवबुद्ध्या।
ये तु प्रेम्णा प्रणतिपरमास्त्वत्पदं संश्रयन्ते
ते दृष्टस्तेऽप्रतिममहिमा त्वत्कृपालोकदीप्त्या।।७।।

शान्तं दान्तं समदृशियुतं मौनवन्तं निरीहम्
स्वात्मक्रीडं निजसुखभुजं सौम्यगम्भीरमूर्तिम्।
शक्त्याधारं परमकरुणं जीवकल्याणदीक्षम्
वन्दे देवं भवभयहरं सद्गुरूणां वरिष्ठम्।। ८।।

।। इति श्री श्री योगिराजाष्टकम्।।

श्री श्री योगिराज स्त्रोत्रम्।

ॐ ब्रह्मानंदं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वदा-साक्षिभूतम्
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि।।१।।

आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नम्
ज्ञानस्वरूपं निजबोधयुक्तम्।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यम्
श्रीमद्गुरुं नित्यमहं भजामि ।।२।।

प्रशान्तं निरहंभावं निर्मानं मुक्तमत्सरम्।
प्रसन्नवदनं सौम्यं योगिराजं नमाम्यहम्।।३।।

हर्षामर्षभयोद्वेगकामलेशविवर्जितम्।
आत्मनात्मनि संतृप्तं योगिराजं नमाम्यहम्।।४।।

समदुःखसुखं स्वस्थं समलोष्ठाश्मकाञ्चनम्।
समनिन्दास्तुतिं धीरं योगिराजं नमाम्यहम्।।५।।

उदासीनवदासीनं सदान्तर्दृष्टिसंयुतम्।
ईप्सयानीप्सया हीनं योगिराजं नमाम्यहम्।। ६।।

जरां व्याधि विनाशंच सम्पदञ्चापदन्तथा।
रम्यं मत्वैव भुञ्जानं योगिराजं नमाम्यहम्।। ७।।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
रजस्तमोवियुक्तं तं योगिराजं नमाम्यहम्।। ८।।

सर्वेच्छाः सकलाश्चिन्ताः सर्वेहाः सकलाः क्रियाः।
चित्तान्निर्वासिता येन योगिराजं नमाम्यहम्।। ९।।

संसाराडम्बराः सर्वे यस्यान्तवर्त्तिदृष्टिषु।
स्वप्नवद्भासमानास्तं योगिराजं नमाम्यहम्।। १०।।

सर्वत्र विगतस्नेहं सर्वत्र समदर्शनम्।
सर्वत्र प्रेमवन्तञ्च योगिराजं नमाम्यहम्।।११।।
निःशेषितजगत्कार्यं परिपूर्णमनोरथम्।
लोकहिताय सक्रियं योगिराजं नमाम्यहम्।।१२।।
अन्तर्गूढमहैश्वर्यं विहरन्तमनीशवत्।
सुसंवृतमहाशक्तिं योगिराजं नमाम्यहम्।। १३।।
विश्वमात्मनि पश्यन्तं सर्वज्ञानसमन्वितम्।
प्राकृतवच्चरन्तं तं योगिराजं नमाम्यहम्।। १४।।
भवव्याधिचिकित्सार्थं दीनानामनुकम्पया।
स्वीकृताऽऽचार्यता येन योगिराजं नमाम्यहम्।। १५।।
आकृष्य सादरं क्रोडे आतुराणि मनांसि वै।
ज्ञानामृतप्रदातारं योगिराजं नमाम्यहम्।। १६।।
सचित्तत्वेऽपि निश्चित्तं सक्रियत्वेऽपि निष्क्रियम्।
देहस्थत्वेऽपि ब्रह्मस्थं योगिराजं नमाम्यहम्।। १७।।
लब्ध्वापि ब्रह्मनिर्वाणं भक्तचिते प्रकाशितम्।
सर्वगं सच्चिदानन्दं योगिराजं नमाम्यहम्।। १८।।
यावतीर्वासनास्त्यक्त्वा दीनकल्याणवासना।
पोपिता हृदि गम्भीरे गम्भीरात्मन्नमोऽस्तु ते।। १९।।
अनाथा बहवो नाथ नाथवन्तस्त्वया विभो।
अनाथनाथ मन्नाथ नाथयोगिन् नमोऽस्तु ते।। २०।।
कायेन मनसा वाचा नमस्कारं विना प्रभो।
साधनं नैव जानामि भूयो भूयो नमोऽस्तु ते।। २१।।
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।। २२।।
त्वन्निवेदितसर्वस्वः त्वद्ध्यानसुधयाप्लुतः।
कदानन्दमयो भूत्वा त्वयि स्थास्याम्यहर्निशम्।। २३।।

इति श्री योगिराजं स्त्रोत्रम् समाप्तम्।।

।। ॐ तत्सत्।।

गुरुवन्दना।

--:o:--

ज्ञानानन्दघनस्वरूपममलप्रज्ञानविद्योतितम् ।
सर्वेश्वर्यशिरःसु चार्पितपदं विद्यागणैः सेवितम्।।
शान्ताद्वैतपदे समाहितधियं संशान्तसर्वेन्द्रियम्।
नित्यं ब्रह्मरसप्रलीनहृदयं वन्दे गुरुं शंकरम्।।
आर्तानां शरणं त्रितापहरणं शोकाग्निनिर्वापणम्।
भीतानामभयं प्रसन्नवदनं प्रेमामृतास्वादनम्।।
दीनानां वरदं प्रपन्नशमदं संसारवन्धच्छिदम्।
भक्तानां स्वजनं कृपाघनतनुं वन्दे गुरुं शंकरम्।।

प्रकाशक का निवेदन

योग भव रोग का सर्वोत्तम रसायन है। यह भारतीय अध्यात्म-साधना का चिन्तामणि है। अन्दर के कितने ही कपाट उद्घाटित करने वाली यह परमार्थ विद्या और साधना वस्तुतः बहुत गूढ़ और रहस्य पूर्ण है जिसे सद्गुरू के मार्गदर्शन में निरन्तर अभ्यास से कोई योग्य साधक ही पा-समझ सकता है। इसीलिये अनेक लोकसंग्रही सिद्धों और महात्माओं को लोक कल्याण की कामना से योग के दुर्लभ रहस्यों को सुलभ बनाने के लिये समय-समय पर धरती पर अवतार लेना पड़ा है। योगिराज बाबा गम्भीरनाथजी एक ऐसे ही अवतारी सिद्ध पुरूष थे। शिवावतार योगेश्वर श्री गोरखनाथजी की तपश्चर्या से पवित्र गोरखपुर स्थित गोरखनाथ मठ एवं सिद्धपीठ के आध्यात्मिक प्रकाश में जिन महामहिम योग सम्पन्न सन्तों और साधकों ने सिद्धि और प्रसिद्धि प्राप्त की, उनमें निश्चय ही योगिराज गम्भीरनाथजी का स्थान बहुत ऊंचा है। नाम के अनुरूप ही अपनी ऊंची साधना तथा ज्ञान गम्भीरता के द्वारा उन्होंने न केवल उस सिद्ध पीठ की गरिमा और महिमा की श्रीवृद्धि की अपितु सम्पूर्ण भारत वर्ष में तमाम लोगों को प्रेरित और आकर्षित कर योग के दिव्य प्रकाश की पुनः प्रतिष्ठा की।

योगिराज बाबा गम्भीरनाथजी का जन्म कभी शैव और शाक्त साधना के महान केन्द्र रह चुके है। शारदादेश कश्मीर में हुआ था। उत्कट वैराग्य भावना एवं तत्वजिज्ञासा उन्हें युवावस्था में कश्मीर से योगिसम्प्रदाय के इस प्रसिद्ध केन्द्र गोरक्षनाथ मठ गोरखपुर खींच लायी। यहां उन्हें अपना प्राप्तव्य मिला और यथासमय अपनी पात्रता सिद्ध कर उन्होंने तत्कालीन प्रसिद्ध योगी गोपालनाथजी से योग दीक्षा ली। दीक्षा के पश्चात् निरन्तर ध्यान ज्ञान और गुरु सेवा में रममाण बाबा यहां काफी समय तक साधना रत रहे। फिर गुरु से आज्ञा लेकर गहन साधना के लिये उन्होंने भारतवर्ष के विभिन्न अंचलो में स्थित तपः क्षेत्रों, तीर्थों, गुफाओं, जंगलो तथा पहाड़ो में निरन्तर १२ वर्षों तक साधना रत रह कर प्रव्रजन किया, जिसके फलस्वरूप उन्हें अचिन्त्य योग शक्तियां प्राप्त हुई, जिन्हें आत्मसात् कर वे योगेश्वर्य सम्पन्न विभूतिमान महासिद्ध पुरूष हो गये। अब वे संचित्त होते हुए भी निश्चित, सक्रिय होते हुए भी निसक्रिय तथा देहस्थ होते हुए भी विदेह हो चुके थे। साधना की इस ऊंचाई तक पहुंचे जीवन्मुक्त महात्मा योगिराज बाबा गम्भीरनाथजी का घटनावश अपने गुरुधाम गोरखनाथ मठ गोरखपुर में वर्षों बाद पुनरागम किया। उनकी ख्याति उनसे पहले ही यहां पहुंच चुकी थी। अतः उनके दर्शनार्थ भक्तों,

महन्त अवैद्यनाथ

(गोरक्षपीठाधीश्वर)

जिज्ञासुओं तथा आर्त जनो की भीड़ लगी रहती थी। यद्यपि उन्होंने योग की चमत्कारिक शक्तियों का कभी प्रदर्शन नहीं किया, तथापि कई वार कई लोगों ने अलग-अलग प्रसंगो में इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया। वे वातचीत वहुत कम करते थे। उपदेश भी कम ही देते थे। किन्तु भक्तों, आर्तो और जिज्ञासुओं को उनकी अहेतुकी कृपा वरावर मिलती थी और सत्पात्र तथा अधिकारी के मिलने पर वे योग रहस्यो का यथातथा उद्घाटन भी करते थे। उनका कहना था, यम-नियम का पालन सवको ही करना चाहिए और सनातन धर्म के विधानुसार चलना चाहिए। वे सभी देवी-देवताओं में एक अद्वितीय परमात्मा के ही विचित्र रूप और लीला विलास का दर्शन करने की शिक्षा देते थे। वे सवको भेद्र वुद्धि और साम्प्रदायिक संकीर्णता के परित्याग के भी उपदेश देते थे। षडंग योग विशेपतः हठयोग में पूर्ण सिद्ध होकर भी वे इसके अन्त रंग साधना का उपदेश कम देते थे क्योंकि इस कठिन साधना के अधिकारी दुलर्भ होते हैं और अनाधिकारी के लिये यह घातक भी हो सकता है। गृहस्थ साधकों के लिये वे सदा गुरूदत्त नाम, जप भक्ति और निष्काम सेवा के साथ तत्व विचार पर ही अधिक जोर देते थे। अहर्निश योग साधना एवं लोक मंगल के लिये तपश्चर्या करते हुए वावा ने चैत्र महावारूंणी १३ के दिन सम्वत् १६७३ विक्रमी को महासमाधि ली।

प्रस्तुत ग्रंथ रत्न 'योग रहस्य' इन्हीं योगिराज वावा गम्भीरनाथजी के समय-समय पर दिये गये उपदेशों का प्रकाश है जो संक्षिप्त होते हुए भी शास्त्रीय कठिनता से मुक्त सरल सुवोध, और सारगर्भित हैं। वावा के इन उपदेशों को उनके विशेप कृपा पात्र सुयोग्य शिष्य एवं साधक विद्वद्वर्य आचार्य अक्षयकुमार वन्धोपाध्याय ने ग्रहण कर अपनी प्रांजल व्याख्या के साथ मुलतः वंगला भाषा में प्रस्तुतः किया था, जो योगिराज के तमाम हिन्दी भाषा भाषी भक्तों और जिज्ञासुओं के लिये प्राप्त होकर भी अप्राप्त था। वावा के भक्तों और जिज्ञासुओं की इस कठिनाई को वड़ी सहृदयता से धर्म प्राण अध्यात्म निष्ठ और संस्कृत तथा बंगला के सुधी विद्वान श्रीमान् पं० रघुनाथ शुक्ल ने इसका हिन्दी भाषान्तर प्रस्तुत कर दूर कर दिया। उनके इस कार्य की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। आज जव इस योग रहस्य के उपदेष्टा ग्रहीता और हिन्दी भाषान्तर कर्ता सभी रीति शेष हो चुके हैं इस कृतज्ञता पूर्वक इन सभी महानुभावो का पुण्यस्मरण कर इस ग्रंथ रत्न को पंचमावृत्ति प्रकाशित करते जिज्ञासुओं को समर्पित करते हुए परम प्रसन्नता का अनुभव कर

रहे है। इसके पंचम संस्करण का प्रकाशन इसकी लोकप्रियता और उपयोगिता का प्रसाद है। इसके उपक्रमांणिका सहित विचार, नाम साधन, ध्यान, मन संयम, भक्ति निष्काम, कर्मयोग गुरुतत्त्व और तत्त्वानुसन्धानादि जिन विविध विषयों का विवेचन किया गया है उनकी महत्ता और उपयोगिता कभी बासी पड़ने पर खत्म होने का नहीं भी है क्योंकि ये दुःखत्रय के समाधान में पीड़ित विचारशील श्रेयस्कामी मनुष्य की चिरंतन जिज्ञासा के समाधान विषय है। अस्तु इस उपयोगी ग्रंथ के पुनः प्रकाशन से ब्रह्मलीन योगिराज बाबा गम्भीरनाथजी एवं उनके सुयोग्य शिष्य श्रद्धेय बन्धोपाध्यायजी की साधना के इस शब्द-बद्ध प्रकाशदीप से पाठकों और जिज्ञासुओं का [illegible] भी आलोकित हो सका तो हम अपने प्रयास को सफल समझेंगे।

महन्त अवेद्यनाथ
गोरक्षपीठाधीश्वर
श्री गोरक्षनाथ मन्दिर
गोरखपुर (उ० प्र०)

सूची-पत्र

योगिराज गम्भीरनाथजी महाराज

उपक्रमणिका

-: ज्ञानमार्ग और योगमार्ग :-

शंकर और गोरक्षनाथ

अति प्राचीन काल से परमार्थनिष्ठ हिन्दू समाज में मुमुक्षुगणों की मोक्षप्राप्ति के लिये दो प्रकार के अन्तरंग साधन-मार्ग प्रचलित हैं। एक का नाम है ज्ञानमार्ग और दूसरे का योग-मार्ग। महाभारत रचित होने के पूर्व भी, सम्भवतः वैदिक युग से ही वैदिक कर्मकाण्ड से अतृप्त ज्ञानमार्गावलम्बी और योगमार्गावलम्बी दो प्रबल सम्प्रदाय वर्तमान थे एवं उनके बीच अपने-अपने मत की श्रेष्ठता-प्रतिपादन के उद्देश्य से तर्क-वितर्क होता रहता था। इस बात के प्रबल प्रमाण पाये जाते हैं। महाभारत के शान्ति-पर्व में भीष्मदेव युधिष्ठिर से कहते हैं :-

> सांख्याः साख्यं प्रशंसन्ति योगाः योगं द्विजातयः ।
> वदन्ति कारणं श्रेष्ठं स्वपक्षोद्भावनाय वै ॥

सांख्यमतावलम्बी द्विजातिगण सांख्यमार्ग (ज्ञानमार्ग) की एवं योगमार्गावलम्बिगण योगमार्ग की प्रशंसा करते हैं तथा अपने-अपने मत की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये वे अच्छी युक्तियाँ दिखलाते हैं। ज्ञानमार्ग में तत्त्वविचार ही मोक्ष का उत्तम साधन है। शास्त्र और युक्तियों की सहायता से सभी स्थूल और सूक्ष्म, ऐहिक और पारत्रिक विषयों का अनित्यत्व, अशुचित्व दुःखकरत्व और मोहजनकत्व आदि दोष एवं आत्मा का नित्यत्व, असंगत्व , निष्क्रियत्व सुखदुःखादिविहीनत्व, कार्यकारणातीतत्त्व, सत्यज्ञानानन्तस्वरूपत्व आदि गुणों की पर्यालोचना करके, विषयसम्पर्क वर्जन पूर्वक चित्त को आत्मस्वरूप में या ब्रह्मस्वरूप में समाहित करने की ऐकान्तिक चेष्टा ही ज्ञानमार्गावलम्बियों का मोक्षप्राप्ति के लिये सर्वोत्कृष्ट उपाय है। योगिगण कहते हैं कि केवल विचार द्वारा वैराग्य की प्रतिष्ठा भी नहीं होती और परमतत्त्व में स्थिति भी प्राप्त नहीं होती। जब तक प्राण का स्पन्दन अनियमित रूप से चलता रहता है, देह और इन्द्रियाँ अस्थिर रहती हैं, एवं अन्तःकरण में वृत्तियों के तरंग उठते रहते हैं - अर्थात् जब तक इच्छा शक्ति के प्रभाव से प्राण को आयत्त, देह और इन्द्रियों को स्थैर्य सम्पन्न और

चितवृत्तियों को निरुद्ध नहीं किया जाता - तब तक वासना निर्मूल नहीं होती, चाञ्चल्य दूर नहीं होता, अन्त: करण आत्मस्वरूप में समाहित नहीं होता, सुतरां मोक्षप्राप्ति भी नहीं होती। इस कारण यम और नियम रूप महाव्रत के अनुष्ठान द्वारा देहेन्द्रियमन की पवित्रता सम्पादन पूर्वक आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास करना आवश्यक है। इस साधना द्वारा देहेन्द्रिय के स्थिर, प्राणस्पन्दन के नियमित और चित्तवृत्ति के निरुद्ध होने पर उस निर्मल निस्तरंग विषयसंगरहित, आत्मसमाहित अन्त:करण में स्वयं प्रकाश आत्मा का स्वरूप प्रकाशित होता है। सुतरां यही मोक्ष का प्रकृष्टतम् उपाय है। ज्ञानी कहते हैं कि विषयों के अनित्यत्वादि दोषों के देखने से एवं विचार द्वारा इस बात का दृढ़ निश्चय हो जाने से कि दृश्य जगत् का आत्मा के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, चित्त स्वभावत: ही विषयविमुख होकर प्रशान्त हो जाता है। कर्म प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं। देहेन्द्रियमन की चञ्चलता के मूल में वासना रहती है और वासना के मूल में रहता है अज्ञान। आत्मा में विषयों का अभ्यास और देहादि विषयों में आत्मा का अध्यास रूप अज्ञान ही सब अनर्थों का मूल है। तत्त्वविचारजनित ज्ञान द्वारा अज्ञान का निवारण होता है। अज्ञान की निवृत्ति से सब प्रकार की चञ्चलता निवृत्त हो जाती है। इसके लिये यौगिक प्रक्रिया का कोई विशेष प्रयोजन नहीं होता। आत्मविषयक श्रवण मनन और निदिध्यासन द्वारा ही आत्मस्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार होता है। ज्ञानी प्रकृति या माया एवं तदुत्पन्न सभी पदार्थों के ऊपर वैराग्य करके तदतीत आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करके मुक्त होना चाहता है और योगी प्रकृति या माया तथा तदुत्पन्न देहेन्द्रिय अन्त:करण आदि के ऊपर आधिपत्य प्राप्त करके एवं ईश्वरत्व प्राप्त करके मुक्त होना चाहता है। दोनों के मत में आत्मा स्वरूपत: शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव युक्त है। प्रकृति या माया के दोष-गुण आत्मा में आरोपित होकर आत्मा को जागतिक प्रपंचों में आबद्ध कर देते हैं। आत्मा के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि कर सकने से ही मुक्ति हो जाती है। यही मुक्ति दोनों का लक्ष्य है। किन्तु उनकी साधन-प्रणाली में पार्थक्य है। कपिल प्रवर्तित सांख्य एवं वैदान्तिक ब्रह्मवाद ज्ञान-प्रधान हैं। किसी-किसी अवान्तर विषयों में इन दोनों का पार्थक्य होने पर भी दोनों के साधनतत्त्व मूलत: एक हैं - तत्त्वविचार और वैराग्य। उपनिषद् महाभारत आदि प्राचीन शास्त्रों में अनेक स्थलों पर ज्ञानवादी मात्र को ही सांख्य नाम

से अभिहित किया गया है। 'सम्यक् ख्यायते अनेन इति सांख्यम्' अर्थात् जिसके द्वारा सम्यक् ज्ञान होता है, वही सांख्य है। इन शास्त्रों में जहाँ-जहाँ सांख्य और योग के विषय की आलोचना हुई है, वहाँ-वहाँ ज्ञान मार्ग और योग-मार्ग की बात ही कही गई है। ज्ञानमार्ग और योगमार्ग की प्रणाली में पार्थक्य रहने पर भी फल के सम्बन्ध में कोई पार्थक्य नहीं है। गीता में श्री भगवान् ने कहा है :-

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

सांख्यमार्गावलम्बीगण जो स्थान प्राप्त करते हैं, योगमार्गावलम्बी भी उसी स्थान को प्राप्त करते हैं। अतएव सांख्य और योग को, जो फलतः एक मानकर देखता है, उसी का देखना यथार्थ है। महाभारत में भीष्मदेव ने युधिष्ठिर से कहा है :-

उभे चैते मते ज्ञाने नृपते शिष्टसम्मते ।
अनुष्ठिते यथाशास्त्रं नयेतां परमां गतिम् ॥

हे राजन ! ये दोनों ही साधनमार्ग (सांख्यमार्ग के और योग मार्ग के) शिष्ट सम्मत होने से श्रद्धार्ह हैं; यथाशास्त्र अनुष्ठित होने से दोनों ही परमगति प्रदान करते हैं। भीष्मदेव और भी कहते हैं कि :-

तुल्यं शौचं तपोयुक्तं दया भूतेषु चानघ ।
व्रतानां धारणं तुल्यं दर्शनं न समं तयोः ॥

इन दोनों मार्गो का केवल गन्तव्य स्थान ही समान नहीं है अपितु शौच, तपश्चरण, भूतदया, व्रत-धारण आदि भी समान है। केवल उनके दर्शन (View point) या शास्त्र समान नहीं है। वशिष्ठदेव ने भी जनक जी से यही बात कही है :-

यदेव योगाः पश्यन्ति सांख्यैस्तदनुगम्यते ।
एकंसांख्यं च योगं च यः पश्यति स बुद्धिमान् ॥

याज्ञवल्क्य ने भी जनकजी को सांख्य और योग के ऐसे साम्य का ही उपदेश किया है। कई महापुरूषों ने तत्त्वविचार और योग दोनों की ही प्रयोजनीयता समझकर सांख्य और योग का समन्वय करने की चेष्टा की है तथा शिष्यों को दोनों ही मार्गों का उपदेश दिया है।

यद्यपि सांख्य और योग फल-सम्बन्ध में समान हैं एवं साधनांग सम्बन्ध में भी बहुत कुछ समान हैं, सुतरां किसी पथ को श्रेष्ठ एवं किसी को निकृष्ट समझना नितान्त साध्य-साधन विषयक अज्ञता का परिचायक है, तथापि मुमुक्षुओं के प्रकृतिगत्, रूचिगत्, शक्तिगत् और अवस्थागत् वैषम्य के कारण एक के लिये कदाचित् योगमार्ग अधिक उपयोगी हो और दूसरे के लिये सांख्यमार्ग या ज्ञानयोग। योगवाशिष्ठ में वशिष्ठ जी ने रामचन्द्र जी को उपदेश दिया है --

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघवः।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥
असाध्यः कस्योचिद्योगः कस्यचित्तत्त्वनिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमःशिवः॥

हे राघव ! चित्तनाश के दो मार्ग है-योग और ज्ञान। वृत्ति-निरोध का नाम है, योग और सम्यक तत्त्वानुसन्धान का नाम है ज्ञान। किसी के पक्ष में योग का मार्ग असाध्य होता है और किसी के लिये तत्त्वनिश्चिय का। इसी लिये परमगुरु शिवजी से इन दो प्रकार के साधन योग-मार्गों का निर्देश किया है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'योग' शब्द का सबसे अधिक उदार अर्थ में प्रयोग किया है। जिस किसी उपाय से चित्त विशुद्ध और आत्मनिष्ठ होजाय, जिस किसी उपाय से चित्तवृत्ति की बहिमुर्खता और बहुमुखता निवृत्त होकर अन्तर्मुखता और एकमुखता सम्पादित हो जाय, किसी उपाय से साधक के सब कर्म, सब ज्ञान और सब भाव एक केन्द्राभिमुख हों जाँय, किसी उपाय से मानव जीवन में सब प्रकार का असामञ्जस्य और तज्जनित क्लेश विनष्ट होकर साम्य और शान्ति संस्थापित हो जाय, जिस किसी उपाय से साधक आत्मप्रतिष्ठ हो जाय, वही योग शब्दवाच्य है। देह इन्द्रिय और अन्तःकरण नाना वासनाओं के वशीभूत होकर नाना समयों में, नाना अवस्थाओं में सर्वथा एक नहीं रहता - यही है, अपने साथ अपना वियोग। सर्वदा सब अवस्थाओं में आत्मा को केन्द्र में करके, आत्म प्रतिष्ठ होकर यदि कायिक, ऐन्द्रिक और मानसिक सभी प्रकार की स्थूल सूक्ष्म क्रियायें सम्पादित होती हैं तभी योग होता है, तभी जीवन पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। जीवन में जितना ही बहुत्व और असाम्य दूरी भूत होकर एकत्व और

साम्य प्रतिष्ठित होता है, उतना ही देहेन्द्रियमन मलिनताशून्य हो जाते हैं एवं आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप की साक्षात् उपलब्धि होती है। सुतरां गीता सांख्य को भी योग कहती है, भक्ति को भी योग कहती है, कर्त्तव्य बुद्धि से सम्पादित कर्म को भी योग कहती है और आसन प्राणायाम धारणाध्यानादि समन्वित अभ्यास-योग को भी योग कहती है। साधक की जैसी प्रकृति, जैसी रुचि, जैसी शक्ति, जैसी पारिपार्श्विक अवस्था हो, तदनुसार वह अपने अनुकूल एक विशेष योगमार्ग का अवलम्बन करके योगयुक्त बुद्धि से ऐकान्तिक निष्ठा के साथ साधन करते रहने से ही कृतार्थ हो जायेगा।

महाभारत के युग में अथवा उसके अव्यवहित परे महर्षि पतञ्जलिकृत योगसूत्र ने जिस प्रकार योगदर्शन और योगसाधना को एक सुन्दर संगठित सर्वावयवसम्पन्न चिरस्थायी विशिष्ट रूप प्रदान किया है, उसी प्रकार व्यासकृत ब्रह्मसूत्र ने भी उपनिषदनुगत अद्वैतनिष्ठ सांख्यमत या ब्रह्मवाद एवं ज्ञान साधना को एक चिरस्थायी रूप प्रदान किया है। उसी प्रकार ज्ञानमार्गावलम्बी दूसरी शाखा ने भी अपने को कपिल प्रवर्तित सम्प्रदाय बताते हुये सांख्य-सूत्र की रचना करके अपने विशिष्ट दार्शनिक मत और साधनों को एक स्थायी आकार प्रदान किया है। इसके बाद प्रत्येक मत के ही महापुरुषगण असंख्य ग्रन्थों की रचना किये हैं तथा अपने-अपने सम्प्रदाय की श्रीवृद्धि किये हैं। इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से सभी सम्प्रदाय प्राचीन काल से चले आ रहे हैं एवं नाना श्रेणी के मनुष्यों की आध्यात्मिक क्षुधा को आहार प्रदान करते हैं। बौद्ध सम्प्रदाय ने भी सांख्य और योग दोनों को ही अशंतः ग्रहण किया था और उनको एक विशिष्ट नया रूप देकर अपना लिया था। भारतीय आध्यात्मिक साधना इसी प्रकार क्रमशः परिपुष्ट हुई है।

मध्ययुग में ज्ञानसाधना और योगसाधना की वैजन्ती लेकर दो अलौकिक शक्ति सम्पन्न महापुरुष भारत के आध्यात्मिक साधन-क्षेत्र में आविर्भूत हुये -- एक थे,- वेदान्ताचार्य शंकर और दूसरे थे योगाचार्य गोरक्षनाथ। जिस प्रकार शंकर से वैदान्तिक ज्ञान साधना और ज्ञानी सम्प्रदाय को नवजीवन प्राप्त हुआ, उसी प्रकार गोरक्षनाथ से भी योग-साधना और योगी-सम्प्रदाय को नवजीवन प्राप्त हुआ। ज्ञानिगुरु शंकर ने वेदान्त शास्त्र का प्रचार तथा ज्ञानसाधना को प्रचलित करने के उद्देश्य से संन्यासी सम्प्रदाय को पुनर्गठित किया, उनको कई शाखाओं में विभक्त किया, प्रधान-प्रधान स्थानों पर

मठ- स्थापन करके उनको ज्ञान शिक्षा का केन्द्र बनाया; और इस प्रकार उन्होंने अपने सम्प्रदाय के संन्यासियों द्वारा सम्पूर्ण भारतवर्ष में वेदान्त के तत्त्व और साधना की शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की। योगिगुरु गोरक्षनाथ ने भी योगसाधना को प्रचलित करने के उद्देश्य से योगिसम्प्रदाय का पुनर्गठन किया, उनको कई शाखाओं में विभक्त किया, विभिन्न स्थानों पर आश्रमों की प्रतिष्ठा करके योगशिक्षा के केन्द्र स्थापित किये, एवं अपने अलौकिक प्रभावविस्तार तथा शिष्य प्रशिष्यों के माध्यम से समग्रभारत में योगधर्म प्रचार की व्यवस्था की। मोक्षाभिलाषी संसार विरागी साधुओं के लिये शंकर ने जिस प्रकार अन्तरंग ज्ञान साधना का विधान किया, उसी प्रकार गोरक्षनाथ ने भी अन्तरंग योगसाधना की व्यवस्था की। वे दोनों ही साकार देवोपासना के विरोधी न थे। वे अदूरदर्शी संकीर्णचेता धर्मसुधारक और समाजसुधारकों के समान अधिकार निरपेक्ष होकर सबके लिये एक ही प्रकार की निश्चित साधनप्रणाली की व्यवस्था नहीं किये। इसी उद्देश्य से साधारण गृहस्थों के कल्याण के लिये एवं निम्नाधिकारी साधुओं के लिये साधना के उच्च सोपान पर आरोहण करने के सौकर्य के लिये, उन लोगों ने अनेक मठों और आश्रमों में देवमूर्तियों की प्रतिष्ठा की। भक्ति और आचारनिष्ठा के साथ देवता की उपासना करते-करते ही देहेन्द्रियमन विशुद्ध हो जाते हैं, हृदय सरस और धर्मानुरागी हो जाता है, धर्म के निगूढ़ रहस्यों को जानने का आग्रह उत्पन्न होता है एवं अन्तरंग योगसाधना और ज्ञानसाधना का अधिकार प्राप्त होता है। सालम्ब उपासना निरालम्ब उपासना का सोपान है। लोकोत्तर महापुरुषगण भी लोक-शिक्षा के लिये, अपने जीवन के दृष्टान्त द्वारा लोगों के मन को उनके अधिकारानुरूप धर्मसाधन में आकृष्ट करके उनको कल्याणमार्ग पर परिचालित करने के लिये, पूजार्चना आदि करते रहते हैं। क्योंकि--

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग भी उसी प्रकार करते हैं, श्रेष्ठ व्यक्ति (अपने आचरण और उपदेश द्वारा) जिस शास्त्र का प्रामाण्य प्रतिपादन करते हैं, लोग भी उसी शास्त्र का अनुवर्तन करते हैं।

उदार चरित्र ज्ञानीजन और योगीजन किसी भी देवता की उपासना की अवज्ञा
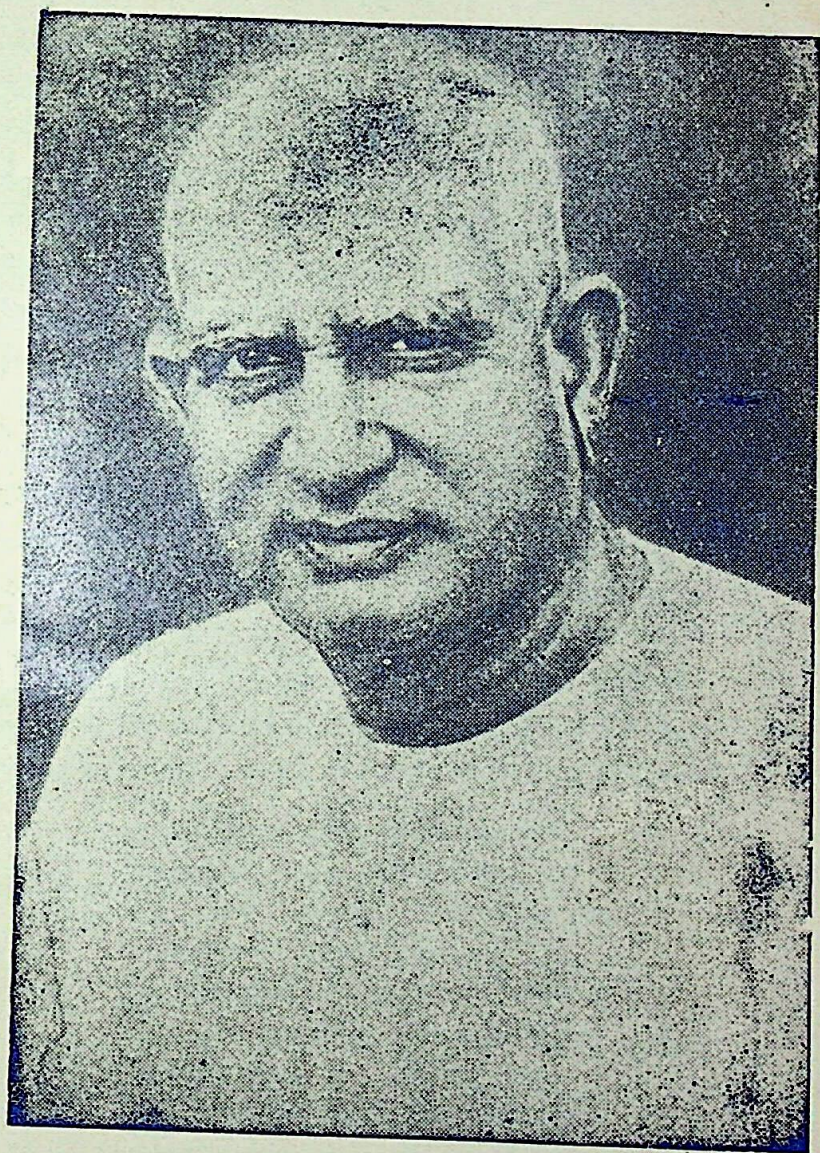
महन्त श्री दिग्विजयनाथ जी

नहीं करते। वे सब देवताओं को ही प्रकृति पुरुषेश्वर मायाधीश अशेष कल्याण गुणाकार भगवान् की विभूति या विशेष विकास समझते हैं और यह समझते हैं कि सब देवताओं की उपासना द्वारा एक भगवान् की ही उपासना होती है। तो भी यही देखा जाता है कि वे प्रधानतः शिवजी के उपासक होते हैं। शिवजी योगियों के भी आदर्श हैं और ज्ञानियों के भी। शास्त्र में भी शिव को ही यतियों के उपास्य रूप में निर्देश किया गया है- 'यतीनां च महेश्वरः'। पातञ्जल योगसूत्र में लिखा है-'क्लेशकर्मविपाकाशयैर परामृष्टः पुरूषविशेष ईश्वरः' अर्थात्-क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासना द्वारा असंस्पृष्ट जो पुरुषविशेष हैं, वही ईश्वर है। इसी आदर्श पर योगीगण और ज्ञानीगण शिवमूर्ति और शिवचरित्र का वर्णन करते हैं तथा भावना करते हैं। शिवजी सर्वैश्वर्यशालिनी विश्वप्रकृतिमयी भगवती महामाया के स्वामी हैं, - वे विश्वब्रह्माण्ड के अधिपति हैं, जो कुछ है सब उनका है - तो भी वे निर्लिप्त उदासीन ज्ञानतपोरत और आत्म समाहित रहते हैं। माया के विकार रूप संसार को संयम द्वारा संहृत और ज्ञानाग्नि द्वारा भस्मीभूत करके और तदवशेषरूप भस्म अपने अंगों में पोतकर--अपने भीतर समस्त विश्व को प्रलीन करके -- वे आत्मानन्द में विभोर रहते हैं। माया उन्हीं की शक्ति, उन्हीं की अंकलीना तथा उनसे स्वरूपतः अभिन्ना है। इस माया से सृष्टि वैचित्र्य की उत्पत्ति होने पर भी वे निर्विकार, प्रशान्त, अचल और अटल रहते हैं। उनका जो रूप कल्पित हुआ है उसमें सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य के साथ साथ कदर्य, घृण्य, भीषण और निष्किञ्चन भाव एक साथ सामञ्जस्य के साथ सम्पृक्त हैं। सब कुछ उनका अंश होकर सुशोभित ओर आनन्दप्रद हो गया है। शिवगीता में शिवजी अपने स्वरूप का इस प्रकार वर्णन करते हैं -

'अचिन्त्यरूपमव्यक्तमनन्तममृतम्' शिवम् ।
आदिमध्यान्त रहितं प्रशान्तं ब्रह्म कारणम् ॥
एकं विभु चिदानन्द अरूपमजन्माद्भुतम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशमुमादेहार्द्धधारिणम् ॥
व्याघ्रचर्माम्बरधरं नीलकण्ठं त्रिलोचनम् ।
जटाधरं चन्द्रमौलि नागयज्ञोपवीतिनम् ॥
व्याघ्रचर्मोत्तरीयञ्च वरेण्यमभयप्रदम् ।
चन्द्र सूर्याग्निनयनम् स्मरवक्त्यसरोरुहम् ॥
भूतिभूषितसर्वांगं सर्वाभरणभूषितम् ।

एवमात्मारणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम् ॥
ज्ञान निर्मथनाभ्यासात्साक्षात्पश्यन्ति मां जनाः ॥

"-अचिन्त्य (मन के अगोचर), अव्यक्त (इन्द्रियों के अगोचर), अनन्त (देशकाल के अतीत), अमृत (मोक्षस्वरूप) शिव (मंगल स्वरूप), आदिमध्य और अन्त रहित (अखण्ड, निरवयव), प्रशान्त (निर्विकार), एक (अद्वितीय), विभु (सर्वव्यापी), चिदानन्द, अरूप (निराकार), अज (जन्मरहित, अद्भुत (उपमाशून्य), सर्वकारण कारण व्रह्म ।" यही उनका पारमार्थिक स्वरूप है । जिन लोगों की चिन्तन शक्ति देश, काल, नाम, रूप आदि स्थूल विषयों के अन्दर आबद्ध रहती है, उनके समक्ष रूपों के बीच इस स्वरूप का एक आभास प्रकट करने के लिये एक रूपकल्पना आवश्यक होती है । इसी लिये स्वरूप वर्णन के बाद उनके रूप का वर्णन हुआ है । वे स्वरूपतः वर्णहीन हैं । इसीलिये उनका रूप शुद्ध स्फटिक के समान शुभ्रवर्णविशिष्ट कहा गया है । इसीलिये उनको उमादेहार्द्धधारी कहा गया है । जगत में जो कुछ भीषण है, वह उस मंगलमय का अंगाभरण बनकर मंगलमय हो जाता है । इसीलिये व्याघ्रचर्म उनका परिधान और उत्तरीय है और सर्प उनका यज्ञोपवीत है । भक्तों का सब दुःख वे अपने भीतर ग्रहण करके उसे जो अविक्रियभाव से हजम कर जाते हैं, इसी बात का आभास नीलकण्ठ शब्द से प्रकाशित होता है । उनका ज्ञान-नेत्र सदा खुला रहता है इसीलिये उन्हें त्रिलोचन कहा गया है ।इस ज्ञाननेत्र के तेज से ही काम भस्मीभूत और वैराग्य प्रतिष्ठित होता है । प्रसाधनविहीन जटाजूटधारी मस्तक उनके परमवैराग्य का एक निदर्शन है । फिर मनोनयनाह्लादकारी चन्द्रकला उनके ललाट पर जटाजूट के सम्मुख ही शोभा पाता है । सर्वदा सुप्रसन्न रहते हैं इसीलिये उनका मुखपद्म ईशद्धास्यविकसित होता है । वे विश्वरूप हैं, उनके तीन नेत्र ही मानो चन्द्र, सूर्य और अग्नि होकर प्रकाशित हो रहे हैं। तो भी विश्वातीत होने से विभूषित हैं । संसार में जितने भी विरोधीभाव हैं सभी उनके अंगों में सामञ्जस्य में विराजमान रहते हैं, सब उनके आभूषण हैं ।

जो साधक अपनी आत्मा को अरणि बनाकर और प्रणव को उत्तरारणि बनाकर ज्ञानमन्थन का अभ्यास करता है, वह इन शिवजी के साक्षात् पारमार्थिक स्वरूप की उपलब्धि करके मोक्ष प्राप्त करता है ।

आराध्य देवता को जिस प्रकार के स्वभाव से युक्त मान कर चिन्तन किया जाता है, उसकी उपासना करते करते उपासक तद्भावभावित होकर बहुत कुछ वैसे ही स्वभाव का हो जाता है। इसीलिये शिव के उपासकों के लिये वैराग्यप्रवण, संसारविमुख, कठोर तपः परायण, अध्यात्मविचारशील, उदासीन संन्यासी होना बहुत स्वाभाविक है। पक्षान्तर में विष्णु के उपासकों के लिये भक्तिमान, प्रेमिक, भावप्रवण, सेवाधर्मरत, समाजमुखीन, लीलास्वादनशील साधु होना अति आवश्यक है। इसी कारण साधारणतः देखा जाता है कि भक्ति पन्थिगण अधिकतर वैष्णव होते हैं तथा योगपन्थी और ज्ञानपन्थी संन्यासिगण अधिकांश शैव होते हैं। इसी कारण शंकर और गोरक्षनाथ दोनों के ही सम्प्रदायों में शिवोपासना का प्राधान्य देखा जाता है।

शिवजी एक ओर जिस प्रकार वैरागी, ज्ञानी और योगियों के आराध्य हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर वे सर्वसाधारण के उपास्य हैं। शिव की पूजा में पौरोहित्य का प्राधान्य नहीं होता। स्त्रियाँ, शुद्र तथा वैश्य भी स्वयं ही शिव की पूजा कर सकते हैं। शिव-मन्दिर में प्रवेश करने में तथा अपने हाथ शिव की पूजा करने में किसी को कोई बाधा नहीं। जो लोग और किसी देवता के मन्त्र में दीक्षित होते हैं, वे भी शिव की पूजा करते हैं। कितने लोग साथ में शिवलिंग लेकर गाड़ी, स्टीमर आदि द्वारा विभिन्न स्थानों को यातायात करते हैं। स्पर्श-दोष शिवजी को स्पर्श नहीं करता। इस देश में कन्याओं को पहिले से छोटी अवस्था में ही शिव-पूजन की शिक्षा दी जाती है। मध्य युग में कृषकगण कृषिकार्य में प्रधानतः शिव की सहायता की प्रार्थना करते थे। पुरातन बँगला साहित्य में शिव के गीतों का एक प्रधान स्थान है। इन गीतों का इतना अधिक प्रचार था कि 'धान शिव की गीत' एक प्रवाद हो गया है। बौद्ध धर्म के पतन और हिन्दू धर्म के पुनरभ्युत्थान के समय अनेकों बौद्ध शिवोपासना ग्रहण करके हिन्दू समाज में अन्तर्भुक्त हो गये थे। साधारण बौद्धों को हिन्दूभावापन्न करने में एक शैव धर्म के इस प्रकार अधिक प्रचार करने में योगिगुरु गोरक्षनाथ का अनन्य असाधारण प्रभाव था।

ज्ञानपन्थी और योगपन्थी सम्प्रदायों के अनेक विषयों में वैशिष्ट्य होने पर भी अनेक ज्ञानमार्गी इन्द्रिय और अन्तःकरण को वशीभूत करने के लिये योग-साधना की सहायता ग्रहण करते थे तथा अनेकों योगपन्थी तत्त्व-निर्धारण के उद्देश्य से सांख्य या वेदान्त शास्त्र का अध्ययन और तदनुरूप विचार करते थे। गोरक्षनाथ और शंकर के

बहुत पूर्व से ही इस प्रकार ज्ञान और योग का मिश्रण चला आ रहा था। शिव संहिता आदि योग-ग्रन्थों में वैदान्तिक ब्रह्मतत्त्व की आलोचना करके उसी ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के उपाय रूप में ही योग-प्रक्रिया का उपदेश प्रदान किया गया है। शंकर और गोरक्षनाथ के बाद यह मिश्रण और भी बढ़ता हुआ सा जान पड़ता है। गोरक्षनाथ के सम्प्रदायवर्ती महापुरुषगण तत्त्व विचार के लिये प्रायशः वेदान्त-शास्त्र का ही अवलम्बन करते हैं। शंकर के सम्प्रदायवर्ती अनेकों महापुरुष भी योगसाधना से सिद्धि प्राप्त करते हैं। भक्ति धर्म के प्रचार के समय से अवश्य ही ज्ञानियों और योगियों के दोनों सम्प्रदायों ने अपने-अपने साधन-प्रणाली को भक्ति रस अभिसिंञ्चित करके सरस बना लिया। मध्ययुग के बाद से ज्ञानी, योगी आदि सब प्रकार के साधक ही 'भक्त' कहलाने लगे। इस बात को प्रायः सभी स्वीकार करते है कि भक्ति वर्तमान काल का युग-धर्म है।

शंकर सम्प्रदाय में जिस प्रकार उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र को सर्वोपरि प्रामाणिक मानने पर स्वयं शंकर एवं उनके परवर्ती अनेकों महापुरूषों द्वारा प्रणीत बहुत से ग्रन्थों को प्रामाणिक माना जाता है, उसी प्रकार गोरक्षनाथ संघटित योगि सम्प्रदाय में भी योगसाधना विषय में पातञ्जल योगसूत्र आदि ग्रन्थों का प्रामाण्य सर्वोपरि होने पर भी गोरक्षनाथ तथा तत्परवर्ती अनेकों महापुरूषों द्वारा रचित योग-ग्रन्थों का प्रामाण्य भी सभी योगी स्वीकार करते हैं। नाथ योगि सम्प्रदाय में विशेषरूप से प्रचलित प्रामाणिक योग-ग्रन्थों के मध्य गुरुदत्तात्रेय द्वारा उपदिष्ट 'दत्तात्रेय संहिता', गोरक्षोपदिष्ट 'गोरक्षसंहिता', एवं सहजानन्द चिन्तामणि स्वात्माराम योगीन्द्र रचित 'हठप्रदीपिका' आदि ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं। गुरु दत्तात्रेय के विषय में भागवत में ऐसा उल्लेख है:-

> षष्ठमत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनुसूयया ।
> आन्वीक्षिमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥

अनुसूया की आराधना पर प्रसन्न होकर वरदान देने वाले भगवान् अत्रि ऋषि के पुत्र-रूप में अवतीर्ण हुये। यह अत्रि और अनुसूया के पुत्र ही दत्तात्रेय नाम से प्रसिद्ध हुये। भगवान् के षष्ठ अवतार थे। उन्होंने अलर्क और प्रह्लाद आदि को तत्त्वज्ञान का उपदेश किया। दत्तात्रेय संहिता में पातञ्जलोक्त अष्टांगयोग ही विशदरूप से तथा कार्य कर रूप में उपदिष्ट हुआ है। हठ प्रदीपिका में भी यही किया गया है। दत्तात्रेय संहिता में आता है कि-

यमश्च नियमश्चैव आसनश्च ततः परम् ।
प्राणायामश्चतुर्थः स्यात् प्रत्याहारश्च पञ्चमः ॥
षष्ठी तु धारणा प्रोक्ता ध्यानं सप्तममुच्यते ।
समाधिरष्टमः प्रोक्तः सर्वपुण्यफलप्रदः ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि-यह अष्टांग योग सब पुण्यों का फल प्रदान करता है। यम और नियम योग-साधना के विशेष अंग नहीं है। वे तो मनुष्य मात्र के लिये अनुष्ठेय हैं। मनुष्य जो भी साधन करे, चाहे जिस अवस्था में हो, यम और नियम का उल्लंघन करना किसी का कर्त्तव्य नहीं हो सकता। यम और नियम सभी साधनाओं के भित्तिस्वरूप हैं। यम और नियम का स्वेच्छापूर्वक उल्लंघन करने से ज्ञान, योग, भक्ति अथवा कर्म किसी भी साधना का सम्यक अनुष्ठान नहीं हो सकता। अपने कल्याण के लिये, समाज के कल्याण के लिये तथा जाति के कल्याण के लिये सब मनुष्यों का सभी अवस्थाओं में अवश्य कर्त्तव्य होता है। इसी कारण महाभारत और पातञ्जल में यम और नियम को 'सार्वभौम महाव्रत' कह कर श्रद्धा के साथ उपदेश दिया गया है। सम्भवतः इसी कारण से गुरु गोरक्षनाथ ने 'गोरक्ष संहिता' में यम और नियम को विशेष रूप से योग के अंग-रूप में नहीं ग्रहण किया एवं योग को अष्टांग न कह कर षडङ्ग कहा,--

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट् ॥

जो मानव मात्र का साधारण धर्म है, उसको विशेषरूप से योग के अङ्ग-रूप में निर्देश करना निष्प्रयोजन है। हठप्रदीपिका में दश यम और दश नियमों का निर्देश हुआ है,-

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं कृपार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ॥
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणश्चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम् ॥
दशैते नियमा प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य, कृपा, अकपटता, क्षमा, धैर्य,

मिताहार और शौचाचार -ये दश यम हैं। तपस्या, सन्तोष, आस्तिक्य (शास्त्र, गुरु और ईश्वर में विश्वास), दान, देवपूजा और सिद्धान्त श्रवण (शास्त्र और महापुरुषों ने जिसे सत्य मानकर सिद्धान्त स्थिर किया है; उसे गुरुदेव के निकट सुनकर एवं शास्त्र ग्रन्थादि पढ़कर समझ लेना), पाप कार्य में लज्जाबोध करना, मति (मनन-सदसद् विचार), जप (प्रणव अथवा गुरुदत्त मन्त्र का मन में आवृत्ति), होम (देवता के उद्देश्य से अपनी भोग्य वस्तु का निवेदन कर देना तथा देवता का प्रसाद ग्रहण करना)- इन दश को योगशास्त्र-विशारदों ने नियम कहा है। योगशास्त्र में अहिंसा आदि के फलों का इस प्रकार वर्णन हुआ है कि अहिंसा जब पूर्ण रूप से स्वभाव में परिणत हो जाती है तो साधक के निकट सब जीव ही हिंस्रभावरहित और भयशून्य हो जाते हैं, जब सत्य सम्पूर्ण रूप से स्वभाव में परिणत हो जाता है, तो साधक का वाक्य अव्यर्थ होता है, अस्तेय प्रतिष्ठित हो जाने पर (किसी भी अवस्था में किसी के भी किसी वस्तु पर लोभ उत्पन्न होने की सम्भावना मिट जाने पर) नाना दिशाओं से धनरत्न और उत्तम-उत्तम भोग्य वस्तुएं अपने आप आकर उपस्थित होती हैं; ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित होने पर अप्रतिहत वीर्य की प्राप्ति होती है। बाह्य और आभ्यन्तरिक शौचाचार के फलस्वरूप एक ओर तो स्वदेह के प्रति आसक्ति और परदेह के प्रति आसङ्गलिप्सा विनष्ट होती है तथा दूसरी ओर अन्तःकरण निर्मल सुप्रसन्न और एकाग्र होकर अतीन्द्रिय दर्शन की योग्यता प्राप्त होती है। सन्तोष के फलस्वरूप अप्रमेय सुख-सम्भोग होता है, तपस्या के प्रभाव से अशुद्धि क्षय और कायेन्द्रिय सिद्धि होती है, इत्यादि। योगिगण इन सब बातों को केवल मिथ्या शास्त्र या अनुमान के ऊपर निर्भर होकर नहीं कहते, अपितु प्रत्यक्ष परीक्षा का फल है। दूसरी ओर अन्तःकरण निर्मल, सुप्रसन्न और एकाग्र होकर अतीन्द्रियदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है। सन्तोष के फलस्वरूप अप्रमेय सुखसम्भोग होता है, तपस्या के प्रभाव से अशुद्धिक्षय और कायेन्द्रियसिद्धि होती है, इत्यादि। योगिगण इन सब बातों को केवल कल्पना, शास्त्र का अनुमान के ऊपर निर्भर होकर नहीं कहते, अपितु यह उनके प्रत्यक्ष परीक्षा का फल है। महाभारत में भीष्मदेव ने कहा है कि-'प्रत्यक्षहेतवो योगाः सांख्याः शास्त्रविनिश्चयाः।' योगियों की युक्ति प्रत्यक्ष प्रमाण के ऊपर प्रतिष्ठित है और ज्ञानियों की शास्त्रवाक्य के ऊपर।

यम नियम के अतिरिक्त योग के अन्य छः अंगों में से आसन, प्राणायाम और

प्रत्याहार बहिरंग हैं, एवं धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग हैं। आसनजयी योगी शीत, आतप, क्षुधा, तृष्णा आदि द्वारा अभिभूत नहीं होता, और आलस्य, तन्द्रा तथा अनेक प्रकार की व्याधियों से भी मुक्त रहता है। श्वांस-प्रश्वांस नियमनरूप प्राणायाम द्वारा प्राणस्पन्दन को आयत्त कर लेने पर ज्ञानावरक कर्मों का क्षय होता है, मन को तत्त्वविशेष में स्थिर करने की शक्ति उत्पन्न होती है एवं अन्य क्षमतायें प्राप्त होती हैं। सर्वदा सावधानी के साथ सुदृढ़ इच्छाशक्ति के प्रयोग द्वारा मन और इन्द्रियों को वाह्य विषयों के संस्पर्श से यथासम्भव निवृत्त रखना और आन्तरभाव में लगे रहने के लिये बाध्य करना ही प्रत्याहार साधन है। इसमें अभ्यस्त होने पर मन और इन्द्रियाँ सम्पूर्ण वश्यता स्वीकार कर लेती हैं। इन सब बहिरंग साधनों से जो उल्लेखनीय असाधारण शक्ति, सामर्थ्य और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, उन पर यदि योग-साधक मुग्ध और आकृष्ट हो जाय एवं उस शक्ति को अन्तरंग साधना में नियोजित न करके यदि अत्यन्त आवश्यक कल्याणकारी प्रयोजन के अतिरिक्त कहीं बाहर प्रकाश करने लगे, तो वह योग से भ्रष्ट हो जाता है तथा उसकी आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग रुद्ध हो जाता है। सदा जाग्रत तीक्ष्ण विचार तथा सद्गुरु की विशेष कृपा के बिना इस प्रलोभन और मोह से उद्धार पाना कठिन होता है। महाभारत में 'दुर्गस्त्वेष महापन्था:' इस वाक्य का उल्लेख करके तथा विविध उपमाओं का प्रदर्शन करके योगसाधक को सावधान किया गया है।

ये सब शक्ति और ऐश्वर्य साधक के लक्ष्य नहीं है। किन्तुविशेष-विशेष साधनाओं के अवश्यम्भावी फल हैं। सुतरां आध्यात्मिक चरमकल्याण प्राप्त करने केलिये इन सब के ऊपर भी तीव्र वैराग्य करना होगा। संसारासक्ति के समान ही इन सबके प्रति आसक्ति को भी सुतीक्ष्ण विचाररूपीअस्त्र द्वारा छिन्न करना होगा; उनका प्रयोजनीय अंशमात्र अन्तरंग साधना के सहायतार्थ प्रयोग करना उचित होगा। यथार्थ योगीगण यही करते हैं। जो लोग शक्ति को धारण नहीं कर पाते और प्रकाश कर देते हैं, वे तो दुर्बल हैं। जो लोग चमत्कार के लिये इन शक्तियों का प्रदर्शन करते हैं अथवा प्रलोभन में आकर इन्हें लेकर खेल करते हैं, वे तो मूर्ख हैं; जो इनके द्वारा लोगों को चमत्कृत करना चाहता है वह योगी तो कुलकलंक है।

धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास योग की अन्तरंग साधना है। वेदान्तोपदिष्ट निदिध्यासन के ही ये तीन स्तर हैं। नाभिचक्र, हृदयकमल, नासिकाग्र,

जिह्वाग्र, मूर्धकेन्द्र आदि शरीर के कोई विशेष प्रदेश, अथवा शरीर के बाहर घट प्रतिमा, दीपशिखा, सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल, आदि विशेषस्थानों पर, किंवा अन्तःकरण के किसी विशेष भाव में, या भगवान् के किसी विशेष नामअथवा रूप में ध्येय वस्तु की प्रतिष्ठा करके देहेन्द्रिय के संयमन पूर्वक चित्त को उसमें आबद्ध रखने का नाम धारणा है।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततोस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशम् नयेत् ॥

गीतोक्त इस श्लोक में आत्मविषयक धारणा का ही उपदेश दिया गया है। धारणा अभ्यस्त होने पर चित्तवृत्ति जब अन्य विषयों की ओर धावित न होकर तैलधारा के समान निराविल एकतानता के साथ ध्येयाकार में आकारित होकर ही प्रवाहित होने लगती है, तभी ध्यान होता है। ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम समाधि है। ध्यान जब ऐंसा प्रगाढ़ हो जाता है, कि उसमें केवल ध्येय विषय की ही उपलब्धि होती रहती है, ध्येयाकार-वृत्ति से भिन्न और कोई वृत्ति ही चित्त में नहीं रहती है, यहाँ तक कि अपनी पृथकसत्ता की भी उपलब्धि नहीं होती, चित्त सम्पूर्ण रूप से ध्येयमय होकर ध्येय का ही आकार प्राप्त कर लेता है, तो इस प्रकार का चित्तस्थैर्य या चित्तवृत्तिनिरोध ही समाधि के नाम से अभिहित होता है। आत्मा, ब्रह्म या ईश्वर में समाधि के बिना परमार्थ-सिद्धि नहीं होती। समाधि के फल स्वरूप यथार्थ प्रज्ञा या तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है, अर्थात् परमतत्त्व की अपरोक्षानुभूति होती है।

धारणा, ध्यान, और समाधि को नाना प्रकार के वाह्य और आन्तर विषयों में प्रयोग करके नाना प्रकार की विभूतियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त की जाती हैं। सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि भी प्राप्त हो जाती है, ऐसा योग-शास्त्र में वर्णित है। किन्तु 'ते समाधौ उपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः' (योग सूत्र ३।३७)। इस योगसूत्र के अनुसार योगलब्ध नाना प्रकार की शक्तियाँ और विभूतियाँ यद्यपि व्युत्थान अवस्था में सिद्ध जान पड़ती हैं, तथापि समाधि में वे विघ्न-स्वरूप होती हैं, समाधि द्वारा लभ्य अव्याहत परमात्मा के साक्षात्कार की वे विरोधी होती हैं, वे चित्त को बहिर्मुख करती हैं एवं चरम लक्ष्यसाधना में अन्तराय हो जाती हैं। सुतरां योग-शास्त्र का उपदेश है कि सभी प्रकार की शक्ति, विभूति और सिद्धियों में वैराग्य का अवलम्बन करके समाहित होकर जन्म, मृत्यु और क्रिया से अतीत

होना होगा, कैवल्य प्राप्त करना होगा। योगिगुरु दत्तात्रेय ने कहा है,-

> समभ्यसेत्तदा ध्यानं घटिकाषष्ठिमेवच ।
> वायुं निरुध्य तां ध्यायेद्देवतामिष्ट-दायिनीम् ॥
> सगुणं ध्यानमेतत् स्यादणिमादिसुखप्रदम् ।
> निर्गुणं खमिव ध्यानेन मोक्षमार्गे प्रवर्तते ॥
> निर्गुणध्यानसम्पन्नः समाधिञ्च समभ्यसेत् ।
> दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् ॥

दिन के सान्ध्य काल में ही ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। वायु का निरोध अर्थात् प्राणायाम करके उस इष्टदायी देवता का ध्यान करना चाहिये। इसका नाम है सगुण ध्यान। इसके फलस्वरूप अणिमादि की प्राप्ति होती है। (इनपर वैराग्य करके) आकाश के समान निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करने से मोक्षमार्ग में अग्रसर हुआ जाता है। निर्गुण ध्यान सम्पन्न होकर समाधि का अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार नित्य निरन्तर निर्गुण ध्यान का अभ्यास करने से बारह दिन में ही (अर्थात् अत्यल्पकाल में ही) समाधि की प्रतिष्ठा हो जाती है और इसके फलस्वरूप कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मोक्ष प्राप्त होने पर अनन्तकाल के लिये जो परमानन्द की प्राप्ति होती है, उसकी तुलना में ऐश्वर्य तथा शक्ति - जनित सब प्रकार के आनन्द नितान्त तुच्छ जान पड़ते हैं। क्षुद्र हृदय योगी ही योग-लब्ध ऐश्वर्य पर मत्त हो जाते हैं तथा मोक्ष से वंचित रह जाते हैं। यथार्थ योगिगण मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से ही पूर्वोक्त योगांगों का अनुष्ठान करते हैं। पतञ्जलि ने कहा है, - 'योगांगानुष्ठा नादशुद्धिक्षये ज्ञान-दीप्तिराविवेकख्यातेः' (योगसूत्र २।२८)- योगानुष्ठान द्वारा अशुद्धिक्षय होने पर विवेकख्याति (प्रकृतिविविक्त आत्मस्वरूप साक्षात्कार) पर्यन्त ज्ञानदीप्ति होती है।

योगाधिकारी साधकों को इस प्रकार मोक्षप्रद योगमार्ग पर लाने के लिये ही योगिगुरु गोरक्षनाथ ने नाथयोगिसम्प्रदाय का संगठन किया।

प्रथमोपदेश

विचार

शास्त्रावबोधामलया धिया परमपूतया ।
कर्तव्यः कारणज्ञेन विचारोऽनिशमात्मनः ॥
बलं बुद्धिश्च तेजश्च प्रतिपत्तिः क्रियाफलम् ।
फलन्त्येतानि सर्वाणि विचारेणैव धीमताम् ॥

[विचार करना]

जब कभी सद्गुरुयोगिराज गम्भीरनाथ के निकट समाधान के लिये कोई समस्या रखी जाती थी, तो वे सर्वोपरि इस एक साधनतत्त्व को सभी जिज्ञासुओं के हृदय में अनुप्रविष्ट कर देने का प्रयत्न करते थे कि -"विचार करना।" यह एक उपदेश उनके सभी उपदेशों का केन्द्र-स्वरूप प्रतीत होता है। इसमें इस बात का निर्देश होता था कि अन्तःकरण में जब कोई जिज्ञासा उत्पन्न हो तो उसके समाधान के लिये पहले ही किसी दूसरे के निकट न जाकर अपने स्वाधीन विचार द्वारा तत्त्व-निर्धारण करने का प्रयत्न करना चाहिये। लौकिक जीवन में हो या आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में हो, सर्वदा सब विषयों में अपनी विचार-शक्ति के निर्देशानुसार अपने को परिचालित करना, अर्थात् अपनी विवेक-बुद्धि के स्वाधीन व्यवहार द्वारा उपस्थित समस्याओं की यथासम्भव मीमांसा करके तथा अपने गन्तव्य पथ का स्वयं आविष्कार करके अदम्य पुरुषकार और अविचल आत्मविश्वास के साथ अभीष्ट मार्ग पर अग्रसर होने में शरीर और मन को लगा देना मनुष्य मात्र का ही अवश्य कर्त्तव्य है, यही योगिराज का उपदेश था। सद्गुरु गम्भीरनाथ अपने सभी उपदेशों के भीतर यही अभिप्राय व्यक्त करते थे कि साधन-भजन में, आहार-विहार में, व्यक्तिगत, सामाजिक और पारिवारिक व्यवहारों में, अर्थात् जीवन के सभी विभागों में, जो कुछ अपने सुनियन्त्रित विचार से शुभ जान पड़े, उसी को शिष्यगण दृढ़ता और निर्भीकता के साथ ग्रहण करें और तद्विपरीत मार्ग का वर्जन करें। वे वाक्य और आचरण से जिज्ञासुओं को समझा देते थे कि परनियन्त्रित होकर रज्जुबद्ध प्राणी के समान सरल पथ पर शीघ्रता के साथ अल्पायास से गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाने की

अपेक्षा आत्मनियन्त्रित होकर सार्थकनामा मनुष्य के समान वक्रपथ पर आयासपूर्वक किंचित बिलम्ब से सिद्धि प्राप्त करना भीश्रेयस्कर है। यह आयास और विलम्ब व्यर्थ नहीं होता। इसके द्वारा ही मानव-प्राणी का यथार्थ उत्कर्ष होता है। पराधीन पशु या पक्षी को किसी पवित्र स्थान पर नानाविधि सुख-सम्भोग-परिवेष्टित होकर रहने पर भी जिस प्रकार उसके जीवन में सार्थकता-सम्पादन और मुक्ति के अतुलनीय आनन्द का आस्वादन सम्भव नहीं होता, उसी प्रकार कोई मनुष्य यदि मनुष्योचित स्वाधीन विचार और स्वाधीन पुरुषकार के प्रयोग से विमुख होकर अधिकतर बुद्धिशाली और शक्तिशाली किसी व्यक्ति के निकट अपनी स्वाधीनता को तिलाञ्जलि देकर उसी के आदेश पर निर्विचार चलता रहता है एवं परवश अवस्था में जीवन-पथ पर चलने के समय यद्यपि उसके द्वारा नाना प्रकार के शुभ कर्म सम्पादित और सुखसम्पत्ति उपभुक्त होते हैं, तो भी उसके मानव -जन्म की चरितार्थता नहीं होती, मनुष्योचित शक्ति का सद्व्यवहार नहीं होता तथा उसे अपने जीवन को परम कल्याण में प्रतिष्ठित करने की योग्यता नहीं प्राप्त होती।

विचारमूलक कर्म ही यथार्थ कर्म है

विचार-शक्ति के अनुशीलन से पराङ्मुख होकर, कोई व्यक्ति, शास्त्र, समाज या आचार्य के आदेश पर पराधीन रूप से दान, व्रत, पूजा, तपस्या आदि जो भी करे, उससे वह उन कर्मों के फलस्वरूप कुछ ऐहिक और जीवन के चरम लक्ष्य मुक्ति की दिशा में अग्रसर नहीं हो सकता। ये शुभकर्म जिस मात्रा में चित्त की विशुद्धि उत्पादित करके विचार शक्ति के विकास में सहायता करते हैं, उसी मात्रा में मनुष्य जीवन में इनकी सार्थकता है। अपने विचार से स्वाधीनतापूर्वक इन शुभकर्मों में प्रवृत्त होने पर ही यथार्थ मनुष्योचित कार्य होता है। मनुष्य स्वाधीन विचार का अनुवर्ती होकर स्वेच्छा से जिन कर्मों का सम्पादन करता है, वे ही वस्तुतः उसके कर्म हैं एवं उन विचार-मूलक कर्मों के भीतर से ही उसकी साधना की पूर्ति होती है। विचारहीन व्यक्ति के क्रिया-कलाप आपात् दृष्टि से निर्दोष और शुभ्र भले ही प्रतीत हों, तो भी उनसे जड़ राज्य के बन्धन से मुक्ति होकर चिद्राज्य में प्रतिष्ठित होने में सहायता नहीं मिलती। किन्तु विचारवान् व्यक्ति अपनी विचार-शक्ति की अपूर्णतावश भ्रान्त सिद्धान्त पर जाकर और

दोषयुक्त कर्म सम्पादन करके भी क्रमशः अनुशीलन द्वारा अपनी विचार-शक्ति का विकास करता रहता है, भ्रान्ति की सम्भावना दूर होती जाती है, अशुभ प्रवृत्तियों के वेग नष्ट होते रहते हैं तथा मुक्ति का पथ सरल और निष्कण्टक होता जाता है। योगिराज जी कहते थे कि विचारशील साधक यदि विचार में भूल करता है और उसी कारण गलत रास्ते पर चला जाता है, तो उसमें भी कोई डर नहीं; विचार ही क्रमशः भूल का संशोधन कर देगा और असत्य मार्ग से लौटाकर सत्य-पथ पर चला लेगा। सर्वदा सजग रहना आवश्यक है। सत्यजिज्ञासु होकर कपट रहित चित्त से विचार करते-करते और दृढ़ता के साथ विचारानुमोदित पथ पर चलते-चलते विचार-शक्ति का क्रमशः विकास होता जायेगा एवं साथ-साथ मन और इन्द्रियों के ऊपर आधिपत्य की क्षमता में वृद्धि होगी, संयम स्वभाव में परिणत हो जायेगा, स्वेच्छयाभूत-अन्तःकरण में सत्य और मंगल के यथार्थ स्वरूप आत्म प्रकाशित होंगे और जीवन के सभी विभाग निःश्रेयस् प्राप्ति के योग्य हो जायेंगे।

योगिराज जी शिष्यों को इस बात के सरल नियमों की भी शिक्षा देते थे कि साधारणतः किस तरह से विचार करना चाहिये। भोग और भोगार्थ कर्मों के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार करना चाहिये कि कौन वस्तु और कितनी आवश्यक है और कौन अनावश्यक; किस प्रकार के कर्म और भोग से चित्त की शुद्धि होगी, वासना का संकोच होगा, प्रवृत्तियाँ वश में आ जायेंगी, अपने मनुष्योचित कल्याण की प्राप्ति में सहायता होगी और दूसरे किसी का किसी प्रकार अनिष्ट नहीं होगा एवं किस प्रकार के कर्म और भोग से लोभ और आसक्ति बढ़ेगी, चित्त में मलिनता आयेगी, प्रवृत्तियाँ प्रबल होंगी, आध्यात्मिक कल्याण की हानि होगी और साक्षात् या परोक्षरूप से दूसरे का अनिष्ट होगा। पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रिक कर्तव्य-निर्णय के सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक होता है कि किस प्रकार का कर्म स्वभाव के अनुकूल एवं अपने और दूसरे सबके लिये अधिक से अधिक कल्याणप्रद होगा, कौन कर्म किस प्रकार सम्पादन करने से परिवार, समाज और देश का स्थायी उपकार होगा एवं अपनी भोगशक्ति-स्वार्थाभिसन्धि, हिंसा, द्वेष, संकीर्णता, अभिमान, ममता आदि का ह्रास होकर देह, मन, बुद्धि के स्वास्थ्य और शुद्धि की प्राप्ति होती। अध्यात्म-क्षेत्र में इस बात के विचार करने की आवश्यकता होती है कि क्या सत् है और क्या असत् है, क्या नित्य है और क्या

अनित्य है, आत्मा का स्वरूप क्या है और अनात्मा का लक्षण क्या है, मुक्ति क्या है और बन्धन क्या है, बन्धन के हेतु क्या हैं और बन्धन-नाश के उपाय क्या हैं, भगवान्, जीव और जगत् के बीच सम्बन्ध क्या है, इत्यादि। मुक्ति-पिपासुओं को यह बात विचारपूर्वक हृदयङ्गम करनी आवश्यक है कि विषय-वासना को जितना ही आश्रय दिया जायेगा, उतना ही बन्धन और क्लेश बढ़ते जायेंगे,-भोग-वासना का संकोचन और तत्त्वज्ञान-वासना का उद्वोधन ही दुःख-निवृत्ति और कृतार्थता-प्राप्ति का प्रथम सोपान है। वासनाधीन होकर विषय-भोग करने से जो अशेष प्रकार से मनुष्यत्व की हानि होती है और परमानन्द-प्राप्ति का मार्ग रुद्ध हो जाता है, इस बात का विचार करते-करते ही वैराग्य उदीप्त होता है। इसके साथ ही साथ सारासार विचार द्वारा परमात्मा ही सार पदार्थ है और सब कुछ असार है, इस बात की उपलब्धि करके परमात्मा के साथ जीवन्त सम्बन्ध स्थापित करना होगा। तदन्तर अपने अधिकार का विचार करके कर्म, उपासना, ध्यान, ज्ञान आदि विभिन्न साधनामार्गों में से कौन मार्ग सहज ही परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिये विशेष अनुकूल होगा, इसका निर्णय करके ऐकान्तिक पुरुषकार के साथ उस पंथ पर अग्रसर होना आवश्यक है।

विचार ही तपस्या है

तपस्याविषयक जिज्ञासा प्रकट करने पर ज्ञानी गुरु गम्भीरनाथजी कहते थे कि विचार ही तपस्या है, तपस्या और दूसरी कौन चीज है ? शारीरिक तपस्या तो पशुपक्षीगण भी कर सकते हैं; वे भी शीतातप, वर्षा, क्षुधा, तृष्णा आदि सहकर कठोर परिश्रम कर सकते हैं। संसारासक्त मायामुग्ध मूर्ख लोग भी सांसारिक उद्देश्य- सिद्धि के लिये कितने काल तक कितनी कठोरता का अभ्यास कर सकते हैं और करते हैं। अर्थाभाव से पीड़ित अथवा राजदण्ड से दण्डित कितने लोग बाध्य होकर आतप, वृष्टि, शीत, उपवास, अर्द्धाहार, अपमान, अत्याचारआदि की वेदना सहन करते-करते ऐसे अभ्यस्त हो जाते हैं कि उससे उनमें आपाततः कोई विकार ही नहीं दिखाई पड़ता। किन्तु इस प्रकार की तपस्या से क्या उनके जीवन की कुछ भी सार्थकता होती है ? विचारहीन शारीरिक तपस्या से पशु के पशुत्व का नाश होकर मनुष्यत्व की प्राप्ति नहीं होती, मूर्खों की अज्ञानता और तज्जनित सभी प्रकार के क्लेशों की निवृत्ति नहीं होती। विचार के

बिना ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है एवं ज्ञान बिना मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। विचार शक्ति की पूर्णता सम्पादन करने के लिये एवं सभी अवस्थाओं में चित्त की प्रसन्नता और प्रशान्तता बनाए रखने की सामर्थ्य प्राप्त करके सम्यग्दर्शन के बाधा-विघ्नों को दूर करने के लिए जैसे सुनियन्त्रित आचार-व्यवहार की आवश्यकता हो, उसी का विचारपूर्वक स्वाधीनरूप से अवलम्बन करना ही तपस्या का अङ्ग है। आहार, विहार, सोना, बैठना आदि सब अवस्थाओं में सर्वदा विचार को जाग्रत रखना और विचारपूर्वक नित्य नैमित्तिक सव कर्मों को संयत रूप से सुसम्पन्न करना ही उत्तम तपस्या है। विचार जाग्रत रहने से सब विषयों में संयम अपने आप आ जाता है और भोगासक्ति कम हो जाती है। हेयोपादेय विचार, नित्यानित्य विचार और जीवन के चरमलक्ष्य के साथ वर्तमान जीवन-यात्रा-प्रणाली के सम्बन्ध का विचार जाग्रत रखकर यदि काम किये जायँ तो कर्मो में बन्धन नहीं उत्पन्न होता। जब तक इस प्रकार का तत्त्व विचारक स्वभाव न बन जाय, तब तक आत्मा का नित्यनिर्लिप्त शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वदा स्मृति में समुदित नहीं रहता, तब तक विचार की चेष्टा रहने पर भी भ्रान्ति, संशय, विक्षेप आदि के आक्रमण होते ही रहते हैं। इससे निराश या विषादग्रस्त होने का कोई कारण नहीं एवं उन सब दुर्बलताओं और दोष-त्रुटियों के विषय में चिन्ता करके मन खराब करने की भी कोई आवश्यकता नहीं। विचार जाग्रत रखने के लिये ऐकान्तिक चेष्टा रहने पर क्रमशः विवेक-बुद्धि की शक्ति बढ़ जाती हैऔर भ्रान्ति विक्षेप आदि की सम्भावना भी कम हो जाती है। शारीरिक तपस्या और तत्प्रसूत शक्ति के ऊपर अतिरिक्त दृष्टि रखना साध्य साधन तत्त्व सम्बन्धी अज्ञता का परिचायक है।

विचार ही ध्यान है

ध्यान के प्रसंग में भी योगिराजजी के उपदेश इसी प्रकार के थे। विचार ही ध्यान है, एकाग्रचित्त से विचार करते-करते उसमें तन्मयता ही ध्यान शुद्ध वाच्य है। शास्त्र और युक्ति की सहायता से विचार करके जो सत्यरूप से निर्धारित हो, उसी सत्य को ऐकान्तिक चित्तस्थिरता के साथ सूक्ष्म विचार द्वारा मन के अन्दर सुदृढ़रूप से जमा देना और मन को उस सत्य के आकार में आकारित करने की चेष्टा को ही ध्यान कहना उचित है। शास्त्र में स्थूल विचार को मनन कहते हैं और सूक्ष्म विचार को ध्यान।

एक विचार के ही प्रथम स्तर को श्रवण, दूसरे स्तर को मनन और तीसरे स्तर को ध्यान कहते हैं। विचार के क्रम-विकास के साथ-साथ ध्यान का उत्कर्ष होता है। तत्त्व-विचार द्वारा जो साधक परमार्थतत्त्व के जिस रूप की धारणा करने में समर्थ होता है, जिस विचारयुक्त अन्तःकरण में परमतत्त्व जिस आकार में परिव्याप्त होता है, वही रूप उसके ध्यान का विषय हो जाता है। शास्त्र और आचार्य का अनुवर्ती होकर विचार करते-करते बुद्धि जितनी ही स्पष्ट रूप में और निश्चित रूप में अभीष्ट तत्त्व के यथार्थस्वरूप का अवधारण करने में समर्थ होती है, ध्येय का उतना ही उत्कर्ष-साधन होता है, चित्त की निर्मलता सम्पादित होती है एवं चित्त के साथ ध्येय का घनिष्ठतर योग संस्थापित हो जाता है। विचार से आत्मा और ब्रह्म की एकता के सम्बन्ध में निश्चयात्मिका बुद्धि प्रतिष्ठित होने पर, ध्यान में भी ध्याता और ध्येय की ऐक्यानुभूति होती है। सुतरां सब साधकों के लिये एक प्रकार के ध्यान का विधान करना उचित नहीं। विचार में अविचल स्थिति ही यथार्थ ध्यान है।

ग्रन्थपाठ और उपदेश-श्रवण की उपकारिता

योगिराज जी यह भी कहते थे कि विचार ही ज्ञान का जनक है। अपने विचार के बिना केवल ग्रन्थपाठ और उपदेश-श्रवण से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। उससे सामयिक उद्दीपन भले ही हो तथा कुछ समय के लिये कोई अपने को विषय विशेष में संशयरहित भी समझ सकता है, किन्तु वस्तुतः उससे परिस्फुट धारणा भी नहीं होती तथा संशय का नाश भी नहीं होता। किसी परीक्षा के उपस्थित होने पर अज्ञानता और संशय प्रकट हो जाते हैं। केवल एक विचार के द्वारा ही निश्चयात्मिका बुद्धि प्रतिष्ठित होती है। शास्त्रपाठ और श्रद्धार्ह व्यक्तियों के उपदेशों से विचार की विशेष सहायता होती है, सामयिक उद्दीपना से साधन में उत्साह आता है, अन्तःकरण के संस्कार अधिक मात्रा में शुद्ध हो जाते हैं, अपने विचार में भूल रहने से दृढ़ पकड़ मिलती है एवं तत्त्वज्ञ आचार्यो के सिद्धांतों के साथ अपने सिद्धांत का मेल होने से उसमें विश्वास दृढ़ हो जाता है, किन्तु स्वयं विचारशील न होने से किसी भी वस्तु से स्थायी उपकार की प्राप्ति नहीं होती। विचार ही राजयोग है।

योग के सम्बन्ध में उपदेश की प्रार्थना करने पर योगिराजजी कहते थे कि

योगशास्त्र में चार प्रकार के योगों की बात है-मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। विचार ही राजयोग है। विचार-शक्ति की उन्नति द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये यथाविधि ऐकान्तिक चेष्टा ही राजयोग कहलाती है। यह आत्मज्ञान में प्रतिष्ठा ही सब योगों का उद्देश्य है। हठ योगादि के बीच भी राजयोग के अति गुह्य साधन हैं और उसी से उनकी सार्थकता है, किन्तु उन सब गुह्य साधनों के उपयुक्त देह और मन लेकर बहुत थोड़े ही लोग जन्म लेते हैं। विचार-मार्ग सबके लिये उपयोगी है। जिनका जैसा अधिकार हो, वे तदनुरूप ही विचार का अभ्यास कर सकते हैं। लक्ष्य रखना होगा-आत्म ज्ञान में प्रतिष्ठा रखनी होगी। विचार करते-करते ही अधिकार भी बढ़ेगा; विचार भी सूक्ष्म होगा और आत्मा का प्रकाश भी स्पष्टतर होगा। हर समय तत्त्व-विचार जारी रहने से एक ही जन्म में मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है।

जीवन द्वारा विचार

ग्रन्थ-पाठ करके या उपदेश सुनकर केवल कुछ बड़ी-बड़ी बातें सीख लेने अथवा तार्किक बुद्धि की सहायता से तात्त्विक बातों की आलोचना पर योगिराज गम्भीरनाथजी विचार नहीं करते थे। विचार केवल तार्किक बुद्धि द्वारा नहीं, अपितु समग्र जीवन द्वारा करना होगा। समग्र जीवन द्वारा जिस सत्य का जिस मात्रा में ग्रहण होता है, प्राण जिस सत्य को जिस मात्रा में नितान्त अपना मान लेता है, समझना होगा कि उसी मात्रा में उस सत्य का ज्ञान प्राप्त हुआ। समस्त जीवन के द्वारा तत्त्वोपलब्धि की ऐकान्तिक चेष्टा ही तत्त्वानुसन्धित्सा और यथार्थ विचार है।

विचारशील जीवन ही यथार्थ मानव जीवन है। योगवाशिष्ठ में कहा गया है :

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः।

स जीवति मनो यस्य मननेन हि जीवति ॥

सब वृक्ष भी जीवन धारण करते हैं, पशु-पक्षी भी जीवन धारण करते हैं, किन्तु जिस मनुष्य का मन मनन (विचार) द्वारा जीवन को परिचालित करता है, उसी मनुष्य का जीवन-धारण सार्थक है, किन्तु वृक्षलता के समान प्रकृति का दास होकर, किंवा पशु-पक्षियों की तरह स्वभावजात क्षुधातृष्णा एवं कामक्रोधादि प्रवृत्तियों के अनुगत् होकर

पराधीन भाव से देहेन्द्रिय मन समूह को सुख-स्वाच्छन्द्य के साथ जीवित रहने पर भी यथार्थ जीवन धारण नहीं होता; इस प्रकार का देहेन्द्रिय-सर्वस्व जीवन मनुष्य जीवन कहलाने के योग्य ही नहीं होता। मनुष्य का मन जिस मात्रा में जागरूक रहता है, उसका जीवन भी उसी मात्रा में सार्थक होता है। अन्तःकरण जिस मात्रा में अपनी विचार-शक्ति और इच्छा-शक्ति के प्रभाव से देह-इन्द्रियों को वशीभूत रखने के लिए-स्वाभाविक प्रवृत्तियों के ऊपर आधिपत्य-स्थापनपूर्वक उनको कल्याणकर मार्ग पर चलाने लिए - नित्य निरन्तर प्रयत्नशील रहता है, उसी मात्रा में वह जीवन्त मनुष्य होता है। प्रकृति के ऊपर विचार की आधिपत्य-प्रतिष्ठा में ही मनुष्य का मनुष्यत्व है।

विचार का पूर्णत्वसाधन ही मानव-जीवन का पूर्णत्वसाधन है

लोक-शिक्षक बाबा गम्भीरनाथ अपने आचरण और उपदेश द्वारा शिष्यों और भक्तों के हृदय में इस तथ्य को अंकित कर देने के लिए सर्वदा ही प्रयत्नशील रहते थे। वे नाना प्रकार से समझा देते थे कि विचार का पूर्णता-साधन ही मानव-जीवन का पूर्णता-साधन है। मनुष्य जिस मात्रा में स्वाधीन रूप से विचार-शक्ति का अनुशीलन करके जीवन को विचारानुमोदित मार्ग पर परिचालित करता है, उसी मात्रा में उसके मनुष्यत्व का विकास होता है। अन्तर्निहित कल्याणमयी शक्तियों का उद्वोधन और कृतार्थता-सम्पादन होता है एवं समग्र जीवन परम पुरुषार्थ-प्राप्ति की ओर अभिमुख होकर अग्रसर होता है। विचार जब सर्वाङ्ग सुन्दर होकर जीवन में सुप्रतिष्ठित हो जाता है, किसी प्रकार के संशय या विपर्यय चित्त में चाञ्चल्य उत्पादन नहीं करते, विचार विरोधी कोई भाव या प्रवृत्ति अन्तःकरण को कलुषित नहीं करती, जीवन के किसी विभाग में किसी प्रकार असामंजस्य नहीं रहता, प्रत्येक अङ्गप्रत्यंग मानो विचारमय होकर सत्य, मङ्गल और सुन्दर की ज्योति से विभासित हो जाते हैं; तभी मनुष्य मनुष्योचित पूर्णता प्राप्त करता है, तभी वह जड़ प्रकृति की अधीनता से मुक्त होकर स्व-स्वरूप में अवस्थित होता है।

द्वितीयोपदेश

शास्त्र और महापुरुष-वाणी

अव्युत्पन्नमना यावत् भवानज्ञाततत्पदः ।

गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर ॥

स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता ।

यस्याभ्यासेन तेनात्मा सन्ततेनावलोक्यते ॥

स्वाधीनता और स्वैराचार का भेद

स्वाधीनता और स्वैराचार के बीच अपरिमित वैषम्य है। स्वैराचार भी एक प्रकार की पराधीनता है, क्योंकि स्वैराचार यद्यपि स्थूल दृष्टि से स्वेच्छानुरूप व्यवहार ही जान पड़ता है, तथापि वस्तुतः वह प्रवृत्ति के निकट आत्मसमर्पण, प्रवृत्ति की अनियमित प्रेरणा के अनुसार चालित होना ही है। प्रवृत्ति मनुष्य का 'स्व' नहीं अपितु 'पर' है। सुतरां बहिर्जगत् की किसी प्रबलतर शक्ति द्वारा चालित या बाधित न होने पर भी जो व्यक्ति देहेन्द्रियमन की असंयत प्रवृत्तियों की शक्ति द्वारा इतस्ततः परिचालित होता है, वह भी वस्तुतः पराधीन है। तत्त्वतः इस प्रवृत्ति की अधीनता ही सब प्रकार की पराधीनताओं का मूल है। काम, क्रोध, हिंसा, द्वेष, अहंकार, ममता, अर्थ-लिप्सा, यश-लिप्सा, क्लेश, भय, विलास, वासना आदि विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर ही मनुष्य दूसरे की दासता स्वीकार करता है, अपने विचारानुमोदित मार्ग का परित्याग करके दूसरे की इच्छा द्वारा चालित होने को राजी हो जाता है। जो मनुष्य अपने को प्रवृत्ति की अपेक्षा उच्चतर और श्रेष्ठतर समझता है, जो आगन्तुक प्रवृत्तियों को चरितार्थ करने की अपेक्षा मनुष्यत्व के विकास को अधिकतर वाञ्छनीय समझता है, वह अपने मस्तक को कभी दूसरे द्वारा पददलित नहीं होने देगा; उसको कोई प्रबलतर शक्ति भी दासत्व की श्रृंखला में आबद्ध करके चला नहीं सकती; वह पराधीनता स्वीकार करके दूसरे की इच्छानुसार चलने की अपेक्षा सब प्रकार की ज्वाला, यन्त्रणा, यहाँ तक

कि मृत्यु को भी स्वच्छन्द चित्त से वरण कर लेने को सदा प्रस्तुत रहता है। सुतरां मनुष्यत्व को सार्थक करने के लिए पराधीनता से आत्मरक्षा करनी होगी एवं पराधीनता से आत्मरक्षा करने के लिये प्रवृत्तियों को विचार कशाघात द्वारा सर्वदा सुनियन्त्रित रखना होगा; स्वैराचरण को त्याग कर स्वाधीनता की प्रतिष्ठा करनी होगी। विचारानुशीलन के अभाव और विचारशक्ति की दुर्बलता से ही स्वैराचरण की उत्पत्ति होती है एवं विचारशक्ति का प्राबल्य तथा जागरूक भाव ही स्वाधीनता की प्रतिष्ठा-भूमि है। स्वाधीनता एक ओर जैसे परतन्त्रता से भिन्न है, उसी प्रकार दूसरी ओर अतन्त्रता अथवा प्रवृत्तितन्त्रता से भी पृथक है । स्वाधीनता का अर्थ है आत्मतन्त्रता अर्थात् अपनी विचार-शक्ति द्वारा जीवन के सब विभागों को नियन्त्रित करने की सामर्थ्य ।

उन्नततर विचार-शक्ति की सहायता-ग्रहण की आवश्यकता

साधनावस्था में उन्नततर बुद्धि और शक्ति की सहायता के बिना अपने को सुनियन्त्रित करना कठिन कार्य है। निज विवेकबुद्धि के यथेष्ट मात्रा में विकसित न होने तक प्रवृत्तियाँ बुद्धि को आवृत्त और विक्षिप्त किए रखती हैं तथा विचार को दूषित और विपर्यस्त करती रहती हैं। ऐसी अवस्था में विचार अधिकांश में प्रवृत्त्यों का ही अनुसरण करता है अथवा प्रवृत्ति ही अनेक समय विचार की मोहिनी मूर्ति धारण करके आत्म-प्रतारण का इन्द्रजाल विस्तृत करती है। प्रवृत्ति द्वारा अभिभूत न होने पर भी अपरिपक्व बुद्धि अनेक क्षेत्रों में दूरदर्शिता, सूक्ष्मदर्शिता और बहुदर्शिता के अभाव में, तत्त्वार्थ ग्राहिणी मनन प्रणाली के प्रयोग में अनैपुण्य के कारण एवं भ्रम, प्रमाद, चाञ्चल्यादि विविध अन्तरायवशतः हेयोपादेय, कर्त्तव्याकर्त्तव्य साध्य-साधन आदि के सम्बन्ध में सत्य-सिद्धान्त पर पहुँचने में समर्थ नहीं होती। विचार ठीक हुआ या नहीं इस सम्बन्ध में भी नाना प्रकार के सन्देह उपस्थित होकर चित्त को आन्दोलितमान करते रहते हैं। सुतरां अपनी विचार-शक्ति के उत्कर्ष-साधन द्वारा सत्य के यथार्थ स्वरूप से अवगत होने के लिए एवं निःसंशय होकर निश्चयात्मिका बुद्धि प्राप्त करने के लिए पूर्णतर विचार-शक्ति का साहाय्य-ग्रहण आवश्यक है, श्रद्धा-भाजन तत्त्वदर्शियों का उपदेश-ग्रहण आवश्यक है।

शास्त्र और महापुरुष-वचन मिला के विचार करना

योगिराज गम्भीरनाथजी के निकट बीच-बीच में लोग ऐसा प्रश्न रखते थे कि हमारी विचार-शक्ति की इस अपरिणत अवस्था में व्यक्तिगत् जीवन में स्वाधीनता और स्वैराचार के बीच, विचार के निर्धारण और प्रवृत्ति के निर्देश के मध्य पार्थक्य करना अनेक स्थलों पर कठिन हो जाता है एवं हम यथासाध्य विचार करके भी जिस स्थान पर पहुँचते हैं, उसकी सत्यता के सम्बन्ध में भी अनेक समय सन्देह उपस्थित होता है, ऐसी अवंस्था में हमें किस उपाय का अवलम्बन करना चाहिए ? इस पर योगिराजजी का उपदेश होता था, शास्त्र और महापुरुष बचन मिलाकर विचार करना – अपना विचार जब शास्त्र और महापुरुषों के उपदेश द्वारा समर्थित हो, तो निःसन्देह समझना चाहिए कि विचार ठीक मार्ग पर चल रहा है और सिद्धान्त निर्दोष है। प्राचीन और आधुनिक पवित्र-चरित्र, निर्मल-हृदय, तत्त्वदर्शी महापुरुषों की अनुभूति और विचार की एकवाक्यता होने से आत्म-प्रतारणा का भय नहीं रहता। वे लोग तत्त्व-निर्धारण के लिए विचार की जैसी प्रणाली निर्धारित कर गये हैं उसी के अनुसरण में अपनी विचार-शक्ति का प्रयोग करना ही निरापद है। प्रामाणिक शास्त्र और महात्माओं के पद-चिन्हों का अनुसरण करते हुए अपनी विचार-शक्ति और इच्छा-शक्ति का अनुशीलन करने से स्वाधीनता खर्च नहीं होती, प्रत्युत उत्तरोत्तर विकसित होती है। किस उपाय से स्वाधीनता का पूर्ण विकास हो सकता है, कैसी प्रणाली के अनुशीलन से विचार-शक्ति, राग-द्वेष मोहादि जनित कुसंस्कारों के प्रभाव से छूट कर सम्यक् तत्त्वावधारणक्षम हो सकती है, किस मार्ग पर नियोजित होने से इच्छा-शक्ति सत्य, शिव एवं सुन्दर के साथ सम्पृक्त होने के लिए प्रधावित होती है, परमकारुणिक शास्त्र और महाजनगणों ने उसी का निर्देश किया है और करते हैं। उनका आनुगत्य स्वीकार करने से मनुष्यत्व का संकोच नहीं होता, अपितु मुक्ति का मार्ग ही प्रशस्त होता है।

निर्विचार आदेश-पालन आनुगत्य-स्वीकार नहीं है

किसी शास्त्र या महापुरुष के विशेष आदेश को ग्रहण करके, उसके मर्मार्थ को अपनी बुद्धि में समझने की चेष्टा न करके निर्विचार यन्त्रवत् परिचालित होने से तत्त्वतः उनका आनुगत्य-स्वीकार नहीं होता और उनके उपदेश का उद्देश्य भी सिद्ध

श्री अक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय
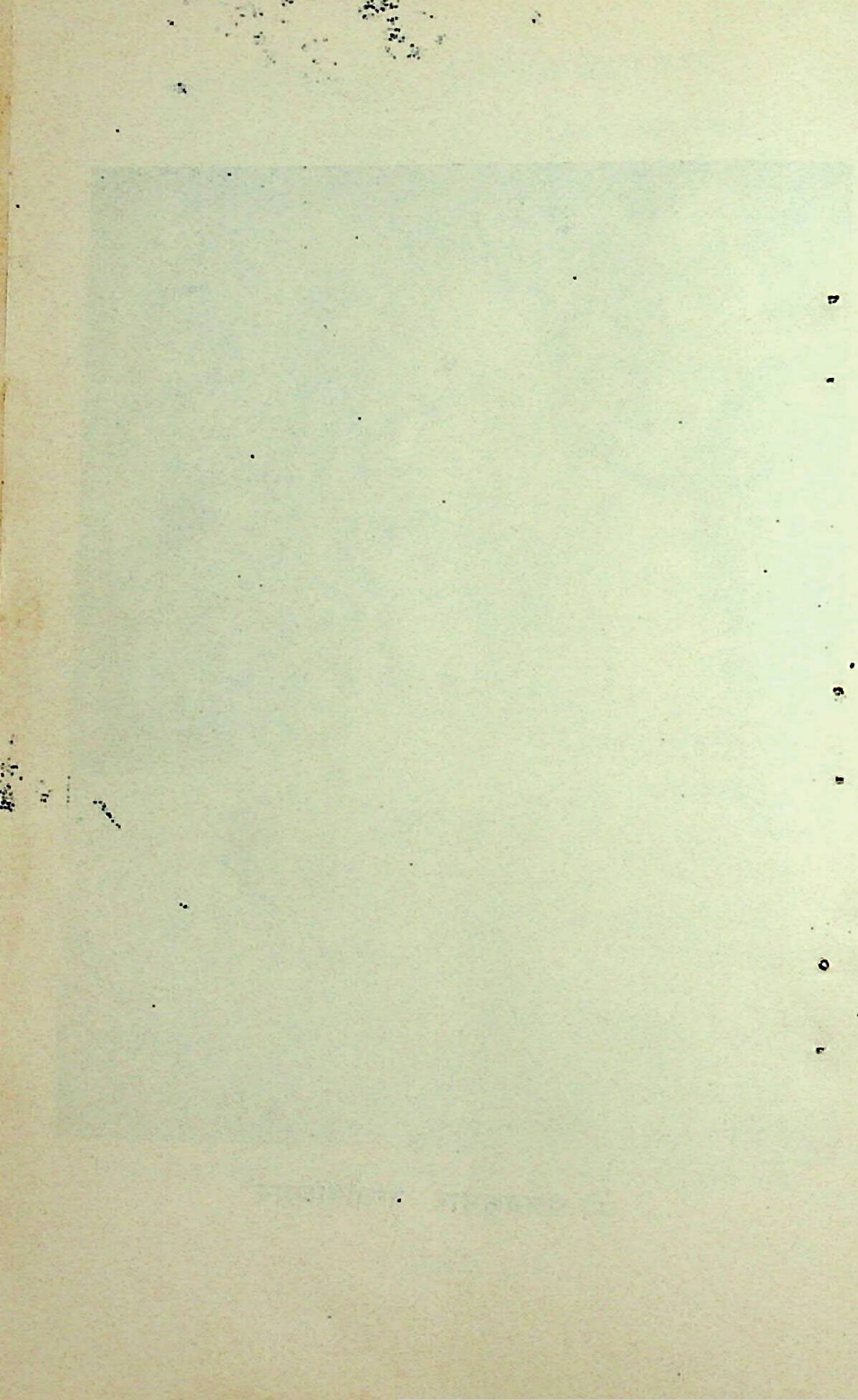
नहीं होता। शास्त्र-समूह और महापुरुषगण लोक-शिक्षा के निमित्त ही लोक-समाज में आविर्भूत होते हैं एवं लोक-शिक्षा भी लोक-समूह की विचार-शक्ति के उत्कर्ष-साधन द्वारा ही होती है। मनुष्यों की स्वाधीन विचार-शक्ति और इच्छा-शक्ति को पंगु बनाकर, उनके कर्त्तव्य-भार को स्वयं ग्रहण करके, उनके आत्म-विकास के पथ को रुद्ध करना लोक-शिक्षकों का अभिप्रेत नहीं हो सकता। स्वाधीन रूप से अपनी शक्ति का सद्व्यवहार करके अपने ही साधन-बल से सब प्रकार से परिपूर्ण होकर ब्रह्म पद तक प्राप्त कर लेगा, इस प्रकार का महान् अधिकार लेकर मानव ने संसार-क्षेत्र में जन्म ग्रहण किया है। मनुष्य के इस अधिकार को क्षुण्ण करने से मनुष्यत्व की अवमानना होती है। शास्त्र और महापुरुष साधकों की स्वाधीनता विन्दुमात्र भी संकुचित करना नहीं चाहते, उनकी विचार-शक्ति और इच्छा-शक्ति को निस्तेज करके अपनी पूर्णता प्राप्त महामहिमान्वित विचार-शक्ति और इच्छा-शक्ति के सुखसंभार-परिपूर्ण कारागार में आबद्ध रखने की इच्छा भी नहीं करते। श्रद्धा के साथ उनकी अभ्रान्त विचार-शक्ति और अव्याहत इच्छा-शक्ति का अनुवर्ती होकर साधकगण अपनी विचार-शक्ति और इच्छा-शक्ति को सम्यक् रूप से अनुशीलित, विकसित, कलुषमुक्त और प्रभाव सम्पन्न करके परम कल्याण प्राप्त करें, यही शास्त्र और महाजनों का उपदेश है। उनके उपदेशों का तात्पर्य और यथार्थ्य अपने स्वाधीन विचार द्वारा हृदयंगम करके साधक जब निःसंशय होता है, तब ही (अर्थात् उसे अपना सकने पर ही) उनका आनुगत्य-स्वीकार सार्थक होता है।

शास्त्र, महापुरुष-वाणी और स्वाधीन-विचार का समन्वय तत्त्व-निर्धारण का उपाय है

स्वाधीन-विचार का सिद्धान्त जिस हद तक शास्त्र के उपदेश और महापुरुषों की अनुभूति द्वारा समर्थित नहीं होता, वहाँ तक जिस प्रकार उसमें सन्देह का कारण विद्यमान रहता है, उसी प्रकार शास्त्र और महापुरुषों की वाणी जिस हद तक अपने विचार द्वारा समर्थित नहीं होती, वहाँ तक वह हृदयंगम नहीं होता, अपने निकट सत्य नहीं होती, उसका यथार्थ मर्म समझ में नहीं आता और जीवन में वह कार्यकारी नहीं होता। शास्त्र-वाक्य का तात्पर्य समझने के लिए महापुरुष-वाणी और अपने विचार के साथ

उसका सामञ्जस्य करना आवश्यक होता है एवं महापुरुष-वाणी के तात्पर्य के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह उपस्थित होने पर शास्त्र-वाक्य और अपने विचार के साथ उसकी एकता करके तात्पर्य-निरूपण आवश्यक होता है। कभी शास्त्र-वाक्य और महापुरुष-वाणी के बीच अनैक्य अथवा असामञ्जस्य प्रतीत होने पर समझना चाहिए कि या तो महापुरुष-वाणी यथार्थरूप से समझी नहीं गई या शास्त्र-वाक्य का मर्म पौर्वापर्य विचारपूर्वक तत्त्वतः हृदयंगम नहीं किया गया, किंवा किसी का आभ्यन्तरीय अर्थ अपनी बुद्धि में सम्यक् रूप से प्रकाशित नहीं हुआ। प्रामाणिक शास्त्रों के तात्पर्य और यथार्थ तथा महापुरुषों की वाणी के तात्पर्य के बीच मूलतः किसी प्रकार का असामञ्जस्य रह नहीं सकता, क्योंकि दोनों ही अपरोक्ष तत्त्व-ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित होते हैं। विचार-शक्ति के सुनियन्त्रित व्यवहार द्वारा उनका ऐक्यानुसंधान करना आवश्यक है। अतएव सिद्धान्त यह हुआ कि किसी विसंवादित या संन्दिग्ध विषय में सत्यासत्य, मंगलामंगल या कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्धारण करने के लिए शास्त्र, महापुरुष-वाणी और अपने विचार का समन्वय करने का प्रयत्न करना चाहिए।

महापुरुष शब्द का प्रधान लक्ष्य गुरु ।

योगिराज गम्भीरनाथ जी इन सब उपदेशों में महापुरुष शब्द के द्वारा प्रथमतः और प्रधानतः गुरु को ही निर्देश करते थे। वे गुरु शब्द का व्यवहार कदाचित् ही करते थे, विशेषतः अपने को किसी का गुरु कभी प्रकाश्य रूप में स्वीकार नहीं करते थे। जब अनेकों धर्म-पिपासु जन उनको गुरु-पद पर वरण करके अपने को कृतार्थ समझते थे एवं वे भी उनको दीक्षा प्रदान करके शिष्य-रूप में आश्रय देते थे, तब भी यदि कोई उनसे पूछता कि आप इनके गुरु हैं या नहीं ? अथवा ये आपके चेला हैं या नहीं ? तो वे सहज ही उत्तर देते थे, गुरु कौन है ? किंवा हमारा कोई चेला नहीं। उनको गुरु-रूप में किसी प्रकार का अभिमान न था एवं शिष्य मानकर किसी के भी ऊपर किसी प्रकार का अधिकार या प्रभुत्त्व वे कभी भूलकर भी न करते थे। कोई शिष्य उनके आदेश को निर्विचार मान ले, इस बात का इङ्गित भी कभी उनके निकट नहीं पाया जाता था। शिष्यों के कल्याण के लिये जब गुरु के सम्बन्ध में कोई उपदेश देने की आवश्यकता होती, तो समझने में भ्रम की सम्भावना न रहने पर भी वे प्रायः गुरु शब्द के बदले

महापुरुष शब्द का प्रयोग करते थे।

गुरु - वाक्य का अनुवर्तन

जो अपनी साधना के बल से साध्यसाधन रहस्य को प्रत्यक्ष समझ कर ब्रह्मात्मबोध में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे, माया के आवरण के पूर्णतया तिरोहित होने के कारण जिनकी दिव्य दृष्टि के समक्ष सब विषयों का यथार्थ स्वरूप प्रतिभात होता था, जो स्वयं ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित होकर अपनी पूर्ण विकसित अध्यात्म शक्ति के संस्पर्श से धर्म-पिपासुओं में अन्तर्निहित सुप्त या जड़ भावापन्न आध्यात्मिक शक्ति को उद्बोधित और उद्दीपित करके उनको मानव-जीवन के चरम सार्थकता के मार्ग पर परिचालित करते थे, जो तत्त्व ज्ञानामृत प्रदान करके उनके भव-व्याधि का आरोग्य साधन करते थे, उन सद्गुरु को ही महापुरुष कहने से भी श्रेष्ठतम् समझना है। उनकी वाणी वेदवाणी के समान ग्रहणीय और विचारणीय होती है। शिष्य के निकट गुरु - वाणी का मूल्य वेदवाणी की अपेक्षा और भी अधिक होता है, क्योंकि गुरु वेद-समुद्र का मन्थन करके अमृत निकाल कर शिष्य के अधिकार की विवेचना करके जिस प्रकार प्रदान करने से उसका यथार्थ कल्याण होगा, उसी प्रकार उसको प्रदान करते हैं। सुतरां शिष्य के लिये अपने विचार को गुरुवाणी का अनुगत करने में ही प्रयत्नशील होना उचित है। समझ रखना चाहिए कि गुरु- वाक्य केवल मान लेने से ही उसका वास्तविक ग्रहण करना नहीं होता। बुद्धि और हृदय जब तक उसको ग्रहण करने के अनुकूल नहीं होते, तब तक सम्भवतः बुद्धि अपने गुप्त अन्तर प्रदेश में उसके विषय में भ्रान्त धारणा और सन्देह का पोषण करती रहती है, हृदय तद्विरोधी विषय पर आसक्त और आकृष्ट होता रहता है, जीवन में शुष्कता, विशृङ्खलता और अशान्ति के कारण बने रहते हैं तथा परीक्षा-स्थल उपस्थित होते ही प्रवृत्ति गुरुवाक्य के विरूद्ध विद्रोह की घोषणा कर देती है। श्रद्धायुक्त विचार द्वारा हृदय और बुद्धि जब गुरु-वाक्य के तथ्य को अपने अन्तरतम् प्रदेश में आत्मसात् कर लेने में समर्थ होता है, तभी उसका वास्तविक ग्रहण करना होता है और उसमें यथार्थ विश्वास प्रतिष्ठित होता है। श्रद्धा और विचार की सहायता से ही गुरु और शास्त्र के उपदेश को धारण करना होता है तथा श्रद्धा और विचार-शक्ति के उत्कर्ष के साथ ही साथ उसमें विश्वास भी बढ़ता रहता है और समग्र

जीवन तद्भावभावित होता जाता है।

महापुरुष के लक्षण

और सब महापुरुषों के विषय में योगिराजजी शिष्यों से कहते थे कि महापुरुषों को पहचानना बहुत कठिन है। शास्त्रों में वशिष्ठ, शुकदेव, जनक, रामचन्द्र, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि असंख्य महापुरुषों के विषय में वर्णन है। शास्त्रों के प्रमाण पर उन सबको महापुरुष माना जाता है एवं उनकी जीवन-कथा का विचार पूर्वक और श्रद्धा के साथ आलोचना करके महापुरुषों के साधारण लक्षण के सम्बन्ध में एक धारणा बनाना उचित है। उन लक्षणों के साथ मिलान करके वर्तमान युग में भी महापुरुषों को पहचानने की चेष्टा की जा सकती है। महापुरुषों के साधारण लक्षणों का इस प्रकार निर्देश किया जाता है। निराकांक्षता, समदर्शिता और सब जीवों पर प्रेम महापुरुषों के प्रधान लक्षण हैं। वे किसी के भी प्रति द्वेष नहीं करते, प्रशंसा भी कदाचित् ही करते हैं, निन्दा और प्रशंसा से वे विषण्ण और उत्फुल्ल नहीं होते, उनके शरीर, वाणी या मन द्वारा ऐसा कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता, जिससे किसी व्यक्ति का किसी प्रकार का अनिष्ट हो, ऐहिक या पारत्रिक किसी योग्य वस्तु के प्रति उनको आसक्ति नहीं होती, तो भी देश, काल और अवस्था के अनुसार यथाविधि कर्त्तव्य- कर्म का सम्पादन करते हुये भी उनमें आलस्य या विरक्ति नहीं आती, सुख-दुःख को वे समान रूप में और प्रसन्नचित्त से ग्रहण करते हैं एवं किसी प्रकार के अवस्था विपर्यय से उनके चित्त में उद्वेग या चाञ्चल्य उपस्थित नहीं होता, वासना या प्रवृत्ति उनके जीवन में किसी कार्य की नियामक नहीं होती। अपनी शक्ति और ऐश्वर्य का प्रचार करने के लिये भी वे किसी कर्म में प्रवृत्त या किसी कर्म से निवृत्त नहीं होते, सर्वदा आसक्ति, अभिमान और व्यस्तता को त्याग कर ऐकान्तिक प्रेम के साथ लोक, समाज के कल्याण के उद्देश्य से वे आत्मशक्ति का प्रयोग और प्रकाश करते हैं।

खोज खोज कर साधुओं को ढूँढ़ निकालने की अनावश्यकता।

किन्तु अनेक महापुरुष जनता की निगाह से बचने के लिये इस प्रकार अपने को

छिपाकर चलते हैं, बाहर इस प्रकार का व्यवहार करते हैं कि सूक्ष्मदृष्टि बिना उनको पहचानना असम्भव होता है। कोई कोई तो परिपूर्ण ज्ञान में प्रतिष्ठित होकर भी बाहर जड़ के समान रहते हैं, सच्चिदानन्द स्वरूप में अविचलित स्थिति प्राप्त करके भी उन्मत्त के समान विचरण करते हैं, मलविक्षेपविहीन परम पवित्र भाव में नित्य विराजमान रहकर भी बाहर पिशाच के समान परिदृष्ट होते हैं, सब जीवों पर ऐकान्तिक प्रेमसम्पन्न होकर भी लोगों के प्रति रुक्ष और अभद्र व्यवहार करते हैं। विचार-दृष्टि निरावरण न होने से ऐसे महापुरुषों को पहचानना कठिन होता है। दूसरी ओर फिर अनेक साधुवेशी कपटचारी लोग स्थूलदर्शी जन-समाज के सम्मुख ऐसे कौशल से बाह्यतः महापुरुषोचित लक्षणों को प्रकट करते हैं कि उनको यथार्थ ही असामान्य महापुरुष समझने का भ्रम हो जाता है एवं उनका संसर्ग करके कितने ही सरल चित्त भक्त नाना प्रकार से प्रताड़ित होते हैं। सतुरां महापुरुषों को पहचानने के लिये व्यस्त न होना ही अच्छा है। साधुसज्जन और पण्डित समाज में जो अनेक वर्षों तक महापुरुष-रूप से परिचित हों एवं जिसके कार्यों में नीति विगर्हित कोई कर्म देखा या सुना न गया हो, उनको श्रद्धा और सम्मान देना उचित होगा, उन्हीं के संग और उपदेश से अधिक लाभ होता है। अज्ञातकुलशील साधुओं का संग-वर्जन करना ही निरापद है। आध्यात्मिक जीवन में गुरु के अतिरिक्त और किसी साधुसन्त के साथ सम्बन्ध रखने की बात वे इस तरह पूछते थे, "और किसी के साथ कुछ लेना-देना तो नहीं है।" सुतरां खोज- खोजकर साधुओं को बाहर निकालने की तथा उनका संग करने की तथा उपदेश-ग्रहण की क्या आवश्यकता है ? किसी साधुवेशी को देखने पर सम्मान करना तो उचित है, साधु-वेश के प्रति भी श्रद्धा-प्रदर्शन करना चाहिये। किसी साधु वेशधारी के उपस्थित होने पर साधुता के आदर्श तथा महापुरुषोचित लक्षणों का स्मरण करके उसको प्रणाम और सम्मान करने से, यथासाध्य उसके प्रयोजनानुरूप कुछ दान कर सकने से एवं श्रद्धा के साथ उसकी सेवा में अपने को नियुक्त करने से विशेष कल्याण प्राप्त होता है। अधिक मिलना-जुलना अनेक क्षेत्रों में निरापद नहीं होता है।

शास्त्र में विश्वास

योगिराज गम्भीरनाथ जी सभी शिष्यों को शास्त्रों पर आस्था-सम्पन्न होने का

उपदेश देते थे। वे कहते थे, "शास्त्र-ग्रन्थों पर विश्वास रखना।" किन्तु किन-किन ग्रन्थों को शास्त्र-ग्रन्थ माना जाय, इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। इस विषय में भी और सब विषयों के समान ही वे शिष्यों को उदार भाव अवलम्बन करने की शिक्षा देते थे। सम्प्रदाय प्रवर्त्तक महात्मागण लोक-शिक्षक आचार्यगण एवं देश और समाज के उन्नत चरित्र ब्रह्मनिष्ठ और विचार निपुण श्रेष्ठ व्यक्तिगण जिन ग्रन्थों को शास्त्र मानते आये हैं एवं तत्त्व और साध्य-साधन रहस्य के सम्बन्ध में विचार और उपदेश करने के समय जिन ग्रन्थों का प्रामाण्य स्वीकार कर लिये हैं, उन्हीं सब ग्रन्थों को शास्त्र मानना उचित है।

जिन ग्रन्थों के अनुशासनानुसार बहुत दिनों से बहुत लोगों का आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन शासित होता आ रहा है, उन सभी ग्रन्थों को शास्त्र मानकर सम्मान देना चाहिये। किसी सम्प्रदाय के ग्रन्थों को उस सम्प्रदाय वाले प्रामाणिक मानकर उनका अनुवर्तन करते हुये अपने जीवन को नियन्त्रित करते हैं, चाहे अन्य सम्प्रदाय वाले उनकी प्रामाणिकता न भी स्वीकार करें तथा विभिन्न समाज और सम्प्रदाय कदाचित् विभिन्न शास्त्र ग्रन्थों की प्रामाणिकता में विशेष आस्था रखते हों, किन्तु इसी कारण किसी शास्त्र की निन्दा करना या किसी को छोटा समझना किसी प्रकार संगत नहीं है। तत्त्वदर्शी महापुरुषों द्वारा प्रवर्तित किसी भी सम्प्रदाय या समाज में जिन शास्त्र-ग्रन्थों की प्रामाणिकता मान ली गई है, उन शास्त्रों के प्रति समुचित श्रद्धा करना उचित है।

अश्रद्धा और धर्मान्धता का त्याग

अंतःकरण और विचारशक्ति द्वारा वर्तमान में कदाचित् किसी शास्त्र की युक्ति या सिद्धान्त का वास्तविक तात्पर्य बोधगम्य न भी हो, अथवा विचार विरोधी प्रतीत हो, परन्तु इसी कारण उसके प्रति श्रद्धा का त्याग कर देना विचार संगत न होगा। तत्त्वदर्शी महापुरुष ही किसी सिद्धान्त का प्रामाण्य या अप्रामाण्य निःसंशय रूप में निर्धारण करने में समर्थ होते हैं एवं वे लोग ही विभिन्न युगों और देशों में विशेष-विशेष शास्त्रों की प्रामाणिकता का निर्देश करते रहते हैं। अपरिपक्वबुद्धि चपलमति मनुष्यों के निकट आज

जो बातें विचार -विरोधी जान पड़ती हैं, दो दिन के बाद विचार-शक्ति के विकास के साथ-साथ वे ही सब बातें सम्पूर्ण रूपेण विचार-सिद्ध प्रतीत हो सकती हैं, फिर आज जो विचार-सिद्ध माना जाता है, वही दो दिन के बाद असत्य और अमंगलजनक माना जा सकता है। सुतरां किसी विषय में धर्मान्ध होना अच्छा नहीं। धर्मान्धता या किसी मत विशेष पर आसक्ति भी आसक्ति ही है तथा वह भी जीवन का अपकर्ष करने में विषयासक्ति की अपेक्षा कम सहयोगी नहीं है। रागद्वेष, कुसंस्कार और मतासक्ति को त्याग कर श्रद्धावनत चित्त से विचार -शक्ति के सुनियत प्रयोग द्वारा सत्य के अनुसन्धान में प्रयत्नशील होना चाहिए, जब तक किसी शास्त्र वाक्य का निगूढ़ मर्म हृदय में प्रकाशित न हो अथवा उसके यथार्थ की उपलब्धि न हो, तब तक उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का मन्तव्य प्रकाशित करना अनुचित है। महाजन प्रमाणित किसी शास्त्र की अमर्यादा करने से या उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की अश्रद्धा और अविनय- प्रकाश करने से अपराध होता है। साधन करते-करते ऐसा समय आयेगा, जब सब शास्त्रों के अन्तर्निहित महासत्य समुज्जवल मूर्ति की तरह अन्तःकरण के अन्दर प्रतिभात होंगे तथा सब मतों का समन्वय करने का सामर्थ्य उत्पन्न होगा।

साधन के अनुकूल ग्रन्थ का अध्ययन

सभी शास्त्रों के प्रति श्रद्धासम्पन्न होना आवश्यक कर्त्तव्य है। यह सही है, किन्तु सब श्रेणी के साधकों के लिये सब प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन और अनुसरण सम्भव भी नहीं, कल्याण जनक भी नहीं। विभिन्न प्रकार के अनेक शास्त्रों के अध्ययनों से विचार -विभ्रम एवं साधन निष्ठा में व्याघात उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है- मन बिगड़ जाता है। प्रत्येक साधक को अपने जीवन -परिचालन के लिये निज सम्प्रदाय और समाज में प्रचलित श्रेष्ठ ग्रन्थों की सापेक्ष पर्यालोचना ही कल्याणकर होती है एवं उन ग्रन्थों को ही श्रेष्ठ भी समझना चाहिये। विशेषतः मुमुक्षु साधक जब गुरु के शरणागत होता है, तो गुरु उसके लिये जिस मार्ग का निर्देश कर देते हैं एवं जिन सिद्धान्त वाक्यों का उपदेश करते हैं, उनके परिपोषक शास्त्रों की श्रद्धा और विचार के साथ आलोचना करना साधन के जीवन में विशेष कल्याणकारी होता है।

सिद्धान्त के अनुकूल ग्रन्थ-पाठ करना

साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक शास्त्र

शास्त्र-ग्रन्थों में कुछ सार्वजनीन है और कुछ साम्प्रदायिक। सार्वजनीन शास्त्रों का प्रामाण्य तो सबको ही स्वीकार्य है एवं उनके पाठ से साधक मात्र ही कल्याण प्राप्त करते हैं जैसे उपनिषद्, महाभारत, योगवाशिष्ठ आदि। जिन ग्रन्थों में विशेष रूप से साम्प्रदायिक साधन- भजन की बात है एवं तदनुकूल साम्प्रदायिक मतवाद विवृत हुआ है, उनको पढ़कर दूसरे सम्प्रदाय के साधकों का विशेष उपकार नहीं हो सकता, अपितु बुद्धि- भेद उत्पन्न होने की सम्भावना भले ही होती है। साधक-जीवन में उदार तथा उन्नतभाव अवलम्बन करके परम कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होने के लिये असाम्प्रदायिक ग्रन्थों की आलोचना न करना ही अच्छा है एवं साथ ही साथ अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थों की आलोचना करने से उपकार होता है। इस प्रसंग में इस बात का स्मरण रखना भी आवश्यक है कि शास्त्र ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है, वह सब कुछ प्रामाणिक शास्त्रीय सिद्धान्त रूप में ग्राह्य नहीं होता। जिस ग्रन्थ के जिस प्रकरण में जो विशेष प्रतिपाद्य होता है, उसमें उसकी प्रामाणिकता होती है एवं समग्र ग्रन्थ का जो प्रतिपाद्य रूप से निर्धारित हो, उस विषय में ही वह ग्रन्थ विशेष रूप से प्रामाणिक होता है। उसके अतिरिक्त व्याख्या के बहाने, विस्तार के बहाने, दृष्टान्त के बहाने, जिज्ञासुओं के चित्ताकर्षण के बहाने, परमताक्रमण के बहाने, भिन्न मतवादियों का निग्रह करने के बहाने, नाना प्रकार की अप्रामाणिक कथाओं की अवतारणा भी शास्त्रों के भीतर की जाती है एवं तत्तच्छास्त्र के प्रचार कालीन नाना प्रकार के संस्कारों का भी उनमें अनुवाद होता है। इन सब आनुषंगिक और आनुवादिक अंशों को शास्त्रीय सिद्धान्त -वाक्य मानकर कितने ही स्थूलदर्शी शास्त्र-व्याख्याता भ्रान्ति में पड़ जाते हैं एवं विभिन्न प्रकार की शास्त्र-वाणियों की सुमीमांसा करने में तथा देशकालावस्थानुसार उनका यथोचित प्रयोग करने में असमर्थ होते हैं। शास्त्रवाक्यों का मर्मार्थ निश्चय करने के लिये, उपक्रम और उपसंहार, उद्देश्य और विधेय, मूल प्रतिपाद्य और व्याख्या-छल से अवतारित अवान्तर विषय, अर्थवाद और अनुवाद, फल -निर्देश और स्तुतिवाद, युक्ति-प्रमाण की दृढ़ता आदि की ओर विशेष लक्ष्य रखकर विचार करना आवश्यक होता है। विचारशक्ति का

अनुशीलन और तत्त्वदर्शी आचार्यों की सहायता के बिना शास्त्र के यथार्थ तात्पर्य का निर्धारण करना कठिन होता है।

गीता

सब शास्त्र- ग्रन्थों में श्रीमद्भगवद्गीता को वे सर्वोच्च स्थान प्रदान करते थे। वे कहते थे, "गीता साक्षात् भगवान् की वाणी है। गीता सब युगों का सच्चा ग्रन्थ है। गीता सर्वधर्मसमन्वयकारी है। हिन्दू धर्म में जो कुछ है, उसका सारमर्म गीता में ही है। किसी की कैसी भी रुचि, बुद्धि और प्रकृति हो एवं उसे किसी भी प्रकार की शिक्षा- दीक्षा मिली हो, गीता सबके लिये ही उपयोगी है। गीता के उपदेशों का अनुवर्तन करके साधक मात्र ही परमार्थ के पथ पर अर्थात् मानव-जीवन के चरम लक्ष्य के पथ पर निर्भय अग्रसर हो सकता है। गीता जिस प्रकार गृहस्थ के लिये अनुकूल पथ का प्रदर्शन करती है, संन्यासी के लिये भी उसी प्रकार करती है। यह असांप्रदायिक विश्वजनीन शास्त्र प्रत्येक व्यक्ति को ही उसके स्वभावोचित मार्ग पर परम कल्याण प्राप्ति के लिये उत्साहित और साहाय्य करता है। सब युगों के सभी प्रकार के मनुष्यों के जीवन को चरम सार्थकता में प्रतिष्ठित करने के लिये एक गीता ही बहुत है।"

योगवाशिष्ठ

अन्य शास्त्र-ग्रन्थों में से वे योगवाशिष्ठ की भी अतिशय प्रशंसा करते थे। वे कहते थे कि योगवाशिष्ठ विशेष उद्दीपनकारी तथा युक्तियुक्त विचार समन्वित ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को मानो खाद्य सामग्री के रूप में सानकर ग्रास बनाकर मुख के निकट ला दिया गया है, केवल ग्रहण ही कर लेना है। किन्तु यह ग्रन्थ गृहस्थों की अपेक्षा त्यागियों के लिये अधिक उपयोगी है। अन्तर से त्याग का संस्कार उद्‌बुद्ध न होने पर योगवाशिष्ठ के रस का आस्वादन नहीं किया जा सकता एवं अन्तर में उसकी शिक्षा को ग्रहण करना भी सम्भव नहीं होता। बल्कि अनधिकारी व्यक्ति जगत् के मिथ्यात्व, आत्मा के नित्यमुक्तत्व और कर्म के हेयत्व के सम्बन्ध में युक्तिचातुर्य प्रतिपादित और चित्ताकर्षक कवित्वपूर्ण वाक्यों को पढ़ते-पढ़ते, तत्त्वज्ञाननिष्ठा और अन्तर्वैराग्य -प्राप्ति के बदले अनेक समय व्यावहारिक जीवन के नित्यनैमित्तिक कर्म -सम्पादन में तामसिक

औदासीन्य का अवलम्बन करके पुरुषार्थ-भ्रष्ट हो जाते हैं।

अन्तर्यामी गुरु के निकट जिज्ञासा

योगिराज जी उपदेश देते थे कि साध्य-साधन-तत्त्व सम्बन्धी किसी समस्या के उपस्थित होने पर प्रथमतः प्रामाणिक शास्त्र और महापुरुषों का अनुवर्ती होकर, धीरभाव से उस विषय के विभिन्न पहलुओं की पर्यालोचना करके विचार करना चाहिये। इस प्रकार के विचार द्वारा ही अनेक समस्याओं का समाधान हो जायेगा। अपनी विचारशक्ति पर विश्वास रखना आवश्यक है। इस प्रकार जिन समस्याओं की सुमीमांसा नहीं हो पाती, उन्हीं के समाधान के लिये हृदय में ऐकान्तिक व्याकुलता लेकर निष्कपट प्रार्थना के साथ अन्तर्यामी गुरु के निकट उस समस्या को निवेदन करना चाहिये। ध्याननिविष्ट चित्त से उत्तर के लिये प्रतीक्षा करनी चाहिये। जब जिज्ञासा निष्कपट और ऐकान्तिक होती है, तो वहाँ से ही वास्तविक उत्तर मिल जाने की सम्भावना रहती है। गुरु भीतर ही हैं, इस बात का विश्वास रखना चाहिये। इसके बाद प्रयोजन हो तो जिज्ञासावाद भी किया जा सकता है।

नाम साधन

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः ।

पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नात्मा नामनामिनोः ॥

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम् ।

आजामिलोऽप्यागाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन् ॥

गुरुदत्त नाम या मन्त्र की शक्ति

योगिराज गम्भीरनाथ जी साधन-सम्बन्ध में अपने गृहस्थ भक्तों को प्रधानतः गुरुदत्त मन्त्र का आश्रय लेने का उपदेश देते थे। जब कोई शिष्य साधन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में कोई प्रश्न करता, तो वे प्रायः यही कहते थे कि जो मिला है, उसी का जप करो । यह बड़े तेज का मन्त्र है, नाम पर विश्वास रखना, नाम से सब कुछ हो जायेगा । गुरुदत्त भगवन्नाम में सर्वार्थ साधन की क्षमता निहित रहती है। श्रद्धा-भक्ति और ऐकान्तिक निष्ठा के साथ उस नाम का जप करते-करते उस क्षमता का विकास होता है। भोजन करते समय जिस प्रकार अभिनिवेश रहता है अन्नव्यञ्जनादि की ओर, किन्तु प्रत्येक ग्रास के साथ जिस प्रकार क्षुधानिवृत्ति, देहेन्द्रिय के शक्ति-बृद्धि और भोजन का आनन्द अपने आप प्राप्त होता जाता है, उसी प्रकार नाम-जप के समय चित्तसंलग्न रहता है अभिन्ननामनामिस्वरूप मन्त्र में, किन्तु प्रति बार के नामोच्चारण के साथ ही साथ अपने अलक्षित रूप में अनित्य विषय भोग में वैराग्य, नित्यसत्यचिदानन्द स्वरूप मन्त्रात्मा भगवान् में प्रेम-भक्ति एवं सर्वार्थ सिद्धिमयी भगवदनुभूति और तज्जनित अतीन्द्रिय सुख का हृदय के भीतर विकास होता जाता है। प्रतिग्रास के साथ होने वाली पुष्टि, क्षुधातृप्ति आदि भोजन के फल जिस प्रकार प्रतिग्रास के समय उपलब्धिगोचर नहीं होते, उसी प्रकार नाम-जप का अत्याश्चर्य फल भी प्रति बार के नामोच्चारण के साथ-साथ अस्वच्छबुद्धि साधक के समझ में नहीं आ सकता। दीर्घकाल की निरन्तर साधना द्वारा अन्तर में संचित आध्यात्मिक सम्पत्ति अपनी ज्योति से ऊपर के मल को भस्म करके

बुद्धि और हृदय के सम्मुख जब विषय रूप में प्रकाशित होती है, तभी अनुभव-गोचर होती है। बुद्धि और हृदय स्वच्छ हो जाते हैं, तभी नाम में निहित अचिन्त्यभाव सम्पत्ति प्रति बार के नाम स्मरण मात्र से ही आस्वादित हो सकती है।

मन्त्र का स्वरूप

गुरुदत्त मन्त्र अक्षरसमष्टि नहीं है, किंवा उसका आक्षरिक या शाब्दिक अर्थ भी नहीं है। मन्त्र में अक्षरबुद्धि रखना शास्त्र में महान् अपराध माना गया है। मन्त्र प्राणवान् तथा आध्यात्मिक तेज का आधार होता है। सद्‌गुरु अपनी साधनलब्ध अलौकिक योग-शक्ति को दीक्षा-मन्त्र में निहित कर देते हैं एवं उसी मन्त्र को सजीव, सचेतन और अचिन्त्यशक्तिमय करके प्रपन्न शिष्य को प्रदान करते हैं। गुरु शिष्य के कान में जिस अक्षर-समष्टि का उच्चारण करते हैं एवं जिस अक्षर-समष्टि की पुनः-पुनः आवृत्ति करने के लिये शिष्य को उपदेश देते हैं, वह अक्षर-समष्टि ही मन्त्र नहीं, अक्षर-समष्टि तो मन्त्र का देहमात्र है, आलम्वन मात्र है। उसके अन्दर जो चिन्मय आत्म विद्यमान है, जो श्रोत्रातीत और वागतीत जीवन-शक्ति उसमें अनुपविष्ट हो गई है, वह ही वस्तुतः मन्त्र है। असीम शक्तिधारी गुरु अपनी गुरुशक्ति को केन्द्रीभूत करके, अपनी दैहिक शक्ति को अतिक्रमित करके अपने को चिछक्ति रूप में परिणत करके, मन्त्राक्षर-समष्टि के भीतर अनुप्रविष्ट हो जाते हैं एवं उसके आत्मा रूप में विराजमान रहते हैं। वह चिच्छक्तिमय मन्त्रात्मा गुरु ही मन्त्र के यथार्थ स्वरूप हैं। गुरु ही मन्त्र है, मन्त्र ही गुरु है। गुरुशक्ति ही मन्त्रशक्ति है। असाधारण योगशक्ति सम्पन्न उपास्यभावभावित महापुरुष अपनी साधनोद्‌बुद्ध चिच्छक्तिमय अनुप्राणना द्वारा जड़स्वभाव मृत्प्रस्तरकाष्ठादिनिर्मित प्रतिमा का जड़त्व विनष्ट करके उसके भीतर जिस प्रकार अत्युद्‌बुद्ध दैवीशक्ति और ऐश्वरिक भावराशि का आविर्भाव सम्पादन करते हैं एवं श्रद्धालु भक्त की दृष्टि में वही प्रतिमा जिस प्रकार जड़भाव में प्रकाशित न होकर चिन्मयी और शक्तिमयी अभीष्ट देवता के स्वरूप में ही प्रकट होती है, उसी प्रकार योगशक्ति के आधार करुणानिधान सद्‌गुरु अक्षर विशेष, शब्द विशेष या वाक्य विशेष को भी आत्म-शक्ति के अनुप्रवेश द्वारा प्राणवान्, चैतन्यमय और महाशक्ति समन्वित अभीष्ट देवता के रूप में प्रकट करके शिष्य के हृदय में प्रतिष्ठित कर देते हैं। मन्त्र देवविग्रह के समान ही गुरु और देवता के साथ अभिन्न होता है।

भगवान् का रूपमय देह और शब्दमय देह

तत्त्वत: परम देवता परमेश्वर अन्तरात्मारूप से जिस प्रकार नेत्रग्राह्य रूपसमुदाय के भीतर विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार श्रोत्रग्राह्य शब्दराशि के भीतर तथा विभिन्न इन्द्रियग्राह्य विषयसमूह के भीतर नित्य विराजमान रहते हैं। विषय मात्र के पारमार्थिक स्वरूप ही तो वे हैं। किन्तु अपनी ही माया से अपने को समावृत रखकर, वे जड़स्वभाव शब्दस्पर्शरूप रसगन्धादि प्राकृतिक विषय रूपों में प्रतीत होते रहते हैं। मायामुक्त विद्याशक्ति सम्पन्न भागवत पुरुषगण अध्यात्मकल्याण कामी मनुष्यों के प्रति अहैतुकी कृपा-प्रकाश पूर्वक विशेष-विशेष रूप और शब्दसमष्टि को माया के आवरण से निर्मुक्त करके उनके अन्तर्यामी चैतन्यमय परमात्मा को उनके बीच अनावृत समुज्वल मूर्ति में प्रकट कर देते हैं एवं उनको उपास्य देवता के रूप में ही उन उपासकों के समीप उपस्थित करते हैं। वे सब रूप भी भावमय होते हैं और वे शब्द भी। वे भगवान् के ही विशेप-विशेष विग्रह रूप में प्रकाशित हैं। भगवान् के ज्ञान-शक्ति-प्रेमादि माहात्म्यों के विज्ञापक वे ही भाव समूह रूपमय देह धारण करके प्रतिमा एवं शब्दमय देह धारण करके मन्त्र नाम से आख्यात होते हैं।

नाम जप या मन्त्र की सेवा

अचिन्त्य ज्ञान-शक्ति-सम्पन्न भगद्भावभावित गुरु उसी स्वाभिन्न सच्चिदानन्दघन मन्त्रंमूर्ति भगवान् को शिष्य के हृदय-मन्दिर में चिर जाग्रत रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। शिष्य जितना ही दिन-दिन, क्षण-क्षण उस मन्त्र की सेवा करता रहता है, जितना ही मन्त्र का माहात्म्य शिष्य के विशोधित अन्तःकरण में प्रकाशित होता रहता है, उतना ही मन्त्रनिहित शक्ति, ज्ञान, भाव, रसादि ऐश्वर्य प्रकट होकर शिष्य को कृतार्थ करते हैं। शिष्य को सर्वाङ्गीण कल्याण पर पहुँचाने के लिए जो कुछ आवश्यक है, वह सब कुछ गुरुदत्त मन्त्र की सेवा द्वारा सुलभ हो जाता है। शास्त्रीय विचार द्वारा मन्त्रतत्त्व से अवगत होकर उसकी अचिन्त्य शक्ति में अविचल विश्वास रखना आवश्यक है। ऐसी धारणा रखनी चाहिये कि गुरु और भगवान् अभिन्नमूर्ति में मन्त्ररूप चिन्मय देह धारण कर निज कृपा से मेरे हृदय में विराजमान हैं। सुतरां सर्वदा सतर्क, अप्रमत्त और भक्तिपूत चित्त होकर

उनकी सेवा में अपनी सम्पूर्ण शक्ति का नियोग करना मेरा परम कर्त्तव्य है। नित्यनिरन्तर प्रेम के साथ स्मरण, चिन्तन और निदिध्यासन ही उनकी सेवा है। यही नाम जप है। इसी से सर्वार्थसिद्धि होती है। जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्न संशयः।

मन्त्र का अर्थ

योगिराज गम्भीरनाथजी से मन्त्र का अर्थ पूछने पर वे कहते थे, "यह तो भगवान् का नाम है, और अर्थ से क्या होगा।" नाम कहने से जिसका नाम होता है, वही समझा जाता है। नाम के उच्चारण या स्मरण मात्र से ही नामी का स्वरूप चित्त-पट पर उदित हो जाता है। नाम द्वारा आह्वान करने पर नामी उत्तर देता है। सुतरां, नाम का अर्थ है नामी। गुरूपदिष्ट मन्त्र भगवान् का नाम है; अतएव स्वयं भगवान् ही मन्त्र के अर्थ हैं। नाम के साथ जितना ही घनिष्ठ परिचय संस्थापित होता है, नाम का अर्थ उतना ही परिस्फुट होता रहता है। नाम का विश्लेषण करके उसके प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक मात्रा का अर्थ तथा उसके समष्टि का शाब्दिक अर्थ शब्दशास्त्र और युक्तितर्क की सहायता से बुद्धि द्वारा यथासम्भव निपुणता के साथ पर्यालोचन करने पर भी, नाम के वास्तविक अर्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। किसी एक नवीन व्यक्ति को देखने पर उसके सब अंग-प्रत्यंगों के आकार, सन्निवेश तथा गतिविधि का विशेष रूप से निरीक्षण करने से ही, किंवा बाहर उसके कुछ बातचीत सुनने से, या कार्यकलाप देखने से अथवा वंशावली का परिचय जानने से ही उस मनुष्य को यथार्थ रूप से जाना या पहचाना नहीं जाता, किंवा उसके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता; मनुष्य के साथ नाना अवस्थाओं के भीतर बार-बार साथ करते-करते उसके कार्यकलाप, वार्तालाप, हावभाव आदि के भीतर से उसके अन्तर्जीवन की प्रकृति के सम्बन्ध में जितनी ही घनिष्ठ जानकारी प्राप्त की जाती है, उस मनुष्य की विचारधारा, भावधारा, कर्मधारा, ज्ञान-विज्ञान, शक्ति-सामर्थ्य, सुख-दुःख आदि के साथ जितना ही योग संस्थापित होता है, उसे उतना ही जाना जाता है, पहचाना जाता है, समझा जाता है तथा उसके साथ एक सम्बन्ध प्रतिष्ठित हो जाता है। उसी प्रकार सद्गुरु जब परमाराध्य भगवान् को सजीव

नाम के रूप में शिष्य के निकट उपस्थित करते हैं, तब उस नाम देह के अङ्ग-प्रत्यंग के सन्निवेश की सूक्ष्म समीक्षा द्वारा अनुसन्धान करने पर भी अर्थात् नाम शब्द के व्यष्टिगत् और समष्टिगत् अर्थ को अतिशय विशद रूप में परिज्ञात करके, नाना प्रकार की शास्त्रयुक्ति तथा महापुरुषों के वाक्यों की सहायता से उसके अर्थगत् माधुर्य, सौन्दर्य और वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने में समर्थ होने पर भी, देही के सम्बन्ध में कोई वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। नाम के रूप में जो उपस्थित हैं, उनके साथ कोई साक्षात् परिचय तो संस्थापित नहीं होता, सुतरां तत्त्वतः नाम का अर्थ तो अज्ञात ही रह जाता है। नाम के वास्तविक अर्थ का यथार्थ परिचय प्राप्त करने के लिये नित्य निरन्तर विचारशील चित्त में नाम का संग करना आवश्यक है, ऐकान्तिकता के साथ नाम की सेवा करना आवश्यक है। श्रद्धा, भक्ति और एकाग्रता के साथ विचार पूर्वक नाम का सङ्ग और सेवा करते-करते अर्थात् नाम के रूप में अवतीर्ण श्री भगवान् का स्मरण, चिन्तन और कीर्तन करते-करते अपने देह, मन और बुद्धि जितने ही निर्मल, निर्वासन, विक्षेपरहित एवं प्रेमरससिक्त होंगे, उतना ही नाम के अन्तर्जीवन के साथ साधक का परिचय होगा, उतना ही नाम और नामी का प्रातीतिक व्यवधान तिरोहित होगा, उतना ही नाम के भीतर भगवान् का प्रकाश भी समुज्वल होगा, उतना ही सच्चिदानन्दघन जीवप्रेममहासिन्धु विश्वगुरु श्री भगवान् अपने सकल ऐश्वर्य, सर्व माधुर्य और सम्पूर्ण शक्ति को लेकर नाम के भीतर से आत्म-प्रकाश करके आराधक को कृतार्थ कर देंगे। तभी नाम का सम्यक् अर्थ जाना गया समझा जायेगा। गुरुदत्त नाम का अर्थ समझ सकना वही बात है जो नामी भगवान् के स्वरूप की उपलब्धि करना। भगवान् को पहचानना ही नाम को पहचानना है, भगवान् से परिचय होने से ही नाम से परिचय होता है। सुतरां कार्यतः नाम का या गुरुदत्त मन्त्र का सम्यक् अर्थबोध ही सिद्धि है। यह अर्थबोध शिष्य के साधन सापेक्ष है। सुदृढ़ विश्वास और अनुराग के साथ नाम साधन करते-करते जितना ही नाम के अर्थ की उपलब्धि होगी, अर्थात् नाम के साथ परिचय होगा, उतना ही नाम का प्रत्येक अक्षर प्रत्येक मात्रा चिन्मय जान पड़ेगा, उसमें प्रेममाधुर्य की परिपूर्णता का आस्वादन होगा एवं नाम स्मरण मात्र से चित्त भगवान् में समाहित हो जायेगा, भगवत्प्रेमसिन्धु में डूब जायेगा। साधन के आरम्भ से ही विश्वास रखना चाहिये कि गुरुदत्त नाम चिन्मय, अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न तथा भगवान् के साथ स्वरूपतः अभिन्न है।

सब देवता एक ही हैं

रूप अनेक हैं, स्वरूप एक है

सद्गुरु गम्भीरनाथ जी शिष्यों को नाम साधन में दीक्षित करते समय एक सुगम्भीर तत्त्व विशेष रूप से जोर देकर समझा देते थे। इस तत्त्व को बिना समझे केवल साम्प्रदायिक संकीर्णता, दलबन्दी और कलह की सृष्टि होती है, इतना ही नहीं अपितु साधक आध्यात्मिक जीवन में बहुत थोड़ी दूर ही अग्रसर हो पाता है, नाम साधन और उपासना द्वारा चरम कृतार्थता-प्राप्ति उसके लिये सुदूर पराहत हो जाती है। शिवनाम में दीक्षित अनेक-अनेक स्थूलबुद्धि साधक समझते हैं कि वे ब्रह्मा, विष्णु, काली, दुर्गा आदि विभिन्न देवताओं से पृथक् और श्रेष्ठ एक विशेष देवता की उपासना करते हैं एवं इस प्रकार अज्ञानमूलक संकीर्ण चित्त लेकर साधन करने के फलस्वरूप वे विशेष देवताराधना का अनित्य विशेष फल ही प्राप्त करते हैं, भगवदाराधना के अमृतमय फल तत्त्वज्ञान, सर्वात्मबोध, विश्वप्रेम की सम्यक् उपलब्धि नहीं होगी और संसार क्लेश की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं प्राप्त होगी। ब्रह्मा, विष्णु, कृष्ण, राम, काली, दुर्गा आदि विभिन्न नामों में दीक्षित विचारहीन साधकगण भी इसी प्रकार की संकीर्णता हृदय में रखकर दीर्घकाल एकनिष्ठ सानुराग उपासना करने पर भी परम कृतार्थता-प्राप्ति से वञ्चित रह जाते हैं, वे साधना के लिये जितना आयास और त्याग स्वीकार करते हैं, तदनुरूप फल प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते। शिष्यगण ऐसे भ्रम में पड़कर परम-पुरुषार्थ से भ्रष्ट न हो जांय एवं साम्प्रदायिक दलबन्दी में लिप्त होकर अशान्ति न भोग करें, इसी उद्देश्य से गुरुदेव दीक्षान्त में सर्व प्रथम यही उपदेश देते थे कि, "ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कृष्ण, काली, दुर्गा और सब देवता एक ही हैं, कोई भेद-बुद्धि मत रखना, रूप बहुत हैं, स्वरूप एक ही हैं।" वे जिस नाम में दीक्षा देते थे, उसके विषय में सतर्क कर देते थे कि यह किसी देवता विशेष का नाम नहीं है, अपितु स्वयं एक अद्वितीय सर्वविधभेदवर्जित भगवान् का नाम है। सर्वदेवमय सर्वान्तर्यामी सर्वमंगलालय सच्चिदानन्दघन श्री भगवान् को ही वे आराध्य देवता रूप में शिष्य के अन्तश्चक्षु के सम्मुख उपस्थापित करते थे। उनके शिष्यों को शैव, शाक्त, वैष्णव आदि किसी विशेष साम्प्रदायिक नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता एवं किसी सम्प्रदाय के बहिर्भूत भी नहीं कहा जा सकता। उनके द्वारा उपदिष्ट उपासना

मार्ग के भीतर किसी प्रकार का साम्प्रदायिक विधि निषेध नहीं था, शिष्यों का किसी प्रकार के साम्प्रदायिक चिन्ह का ग्रहण या धारण करना नहीं था, साम्प्रदायिकता का गन्ध मात्र भी उनके उपदेश के किसी अंश में नहीं मिल सकता था।

उपास्यमात्र की एकता

उपास्य देवतामात्र ही स्वरूपतः एक हैं, कोई व्यक्ति या सम्प्रदाय किसी भी नाम या मूर्ति या पद्धति का अवलम्बन कर उपासना प्रवृत्त हो, प्रत्येक ही एक अद्वितीय परमेश्वर की ही आराधना करता है। एक सर्वाराध्य भगवान् ही विभिन्न नामों, विभिन्न रूपों, विभिन्न प्रणालियों में विभिन्न मार्गावलम्वी साधकगणों द्वारा आराधित होकर उनको साधनानुरूप फल प्रदान करते हैं, नाना प्रकार के नाम, रूप और भाव का पार्थक्य रहने पर भी उपास्य का स्वरूपगत् कोई पार्थक्य नहीं रहता, इस मूल महासत्य की ओर सतगुरु गंभीरनाथ जी शिष्यों की विवेक-दृष्टि तीव्र रूप में आकर्षण करते थे एवं इस तत्त्व को उनके हृदय में प्रगाढ़ भाव से अङ्कित कर देने का प्रयत्न करते थे। एक ही अभिनेता विभिन्न प्रकार के पोशाक परिच्छेद से अपने स्वरूप को आवृत्त करके, विभिन्न प्रकार के नाम और उपाधि को ग्रहण करके एवं विभिन्न प्रकार के कण्ठस्वर, वाक्य-विन्यास, भावभंगिमा और गतिविधि का अवलम्बन करके वाह्याडम्बर विमोहित दर्शक वृन्द के निकट विभिन्न व्यक्तियों के रूप में प्रतीयमान होने पर भी, जिस प्रकार वह व्यक्ति स्वरूपतः अभिन्न ही रहता है। उसी प्रकार एक अद्वितीय सूक्ष्मदर्शी द्रष्टा सर्वविधविकारवर्जित नित्यसत्यचिदानन्दस्वरूप परिपूर्ण भगवान् विविध नाम रूप और उपाधियों से आत्मस्वरूप को आवृत करके नानाभावों में प्रकट होने से तत्वदृष्टिविहीन संकीर्णबुद्धि लोगों के निकट पृथक् देवता रूप में प्रतीत होने पर भी एवं एक-एक प्रकार के नाम रूप और उपाधि के अलंकार द्वारा एक-एक श्रेणी के साधकों के चित्त को विशेष रूप से आकर्षण करने पर भी, स्वरूपतः वे एक अखण्ड अविक्रिय सत्ता में ही नित्य विराजमान रहते हैं। नाम रूप और उपाधि का पार्थक्य उनके स्वरूप में कोई पार्थक्य नहीं उत्पन्न कर सकता। नाम रूप और उपाधि में जिनका चित्त आसक्त और दृष्टि आबद्ध नहीं रहती, नाम रूपादि में अन्तर्यामी प्रमाणरूप के दर्शन से जो वञ्चित नहीं होते, वे ही तत्त्वदर्शी साधक गण सब नाम, सब रूप, और सब उपाधियों के भीतर उस

अद्वितीय निरञ्जन सर्वातीत सर्वाराध्य परम देवता को देखने में और पहचानने में समर्थ होते हैं।

असम्प्रदायिकता

इसी कारण कोई भी विवेक दृष्टि सम्पन्न साधक किसी भी देवता को अपने उपास्य से भिन्न नहीं समझता, सभी देवताओं को विभिन्न नाम रूप और उपाधियों से भूषित करना ही उनकी उपासना है, यह समझ कर पूजा करता है। किसी भी नाम रूप और उपाधि के ऊपर वह अश्रद्धा या विद्वेष नहीं रखता, क्योंकि वह समझता है कि उनके प्रेममय लीलामय परमाराध्य भगवान् ही नाना प्रकार से जीवन के निकट आत्मप्रकाश पूर्वक उनके साथ नाना विध सम्बन्धों से युक्त होकर लीला करते हैं एवं विचित्र स्वभावान्वित उपासकों द्वारा विचित्र प्रणालियों में पूजित होकर सभी का कल्याण करते हैं। भगवान् के यथार्थ उपासक किसी भी देवता के उपासक को भिन्न देवता का उपासक नहीं समझते और न ही उसे अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं। तत्त्वविचारशील अकपट साधक सभी देवताओं के प्रति भक्ति सम्पन्न होता है, सभी सम्प्रदायों के प्रति श्रद्धा रखता है और सब श्रेणी के साधकों के साथ प्रेम का सम्बन्ध रखता है। सद्गुरु गम्भीरनाथ प्रदत्त दीक्षामन्त्र के भीतर भी यह महान गम्भीर विश्वजनीन भाव निहित रहता था, उनके ध्यान सम्बन्धी उपदेश में भी यह तत्त्व परिस्फुट रहता था और दूसरे उपदेशों में भी इस असाम्प्रदायिक दृष्टि का व्यवहार करने की वे विशेष रूप से शिक्षा देते थे।

आसन

सद्गुरु गम्भीरनाथजी नामजप के सम्बन्ध में किसी प्रकार के संख्या, समय और आसन या प्रणाली का निर्देश नहीं करते थे। जो शिष्य आसन के सम्बन्ध में उपदेश की प्रार्थना करते थे, उनसे वे साधारणत: यही कहते थे कि जैसे आसन में और जिस प्रकार बैठकर जप करने से चित्त सहज ही एकाग्र हो जाय, शरीर में किसी प्रकार की वेदना का बोध न हो, अपेक्षाकृत अधिक समय तक अनायास प्रशान्त और प्रसन्नभाव से बैठा जा सके एवं मनको नाम-नामी के भीतर मग्न रक्खा जा सके, उसी प्रकार का आसन विचार और परीक्षा द्वारा निर्धारित कर लेना चाहिये। पद्मासन, सिद्धासन या

सुखासन में बैठकर भी जप किया जा सकता है तथा किसी निर्दिष्ट आसन के अतिरिक्त भी किया जा सकता है। जिसकी जिसमें सुविधा हो। जिससे जपके समय मन नाम में और तदन्तर्यामी भगवान् में अविच्छिन्न भाव से संलग्न रहे या चाञ्चल्य, निद्रा द्वारा अभिभूत न हो, इन्हीं बातों की ओर विशेष दृष्टि रखनी चाहिये।

जपमाला ग्रहण

जपमाला अथवा दूसरी किसी वस्तु की सहायता से संख्या की गणना करके निर्दिष्टसंख्यक नामजप करने की प्रयोजनीयता के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर सर्वविधबन्धनविरोधी योगिराज जी साधारणतः अपने स्वभावसिद्ध मृदु मधुर स्वर में उत्तर देते थे कि, ''यह भी तो बन्धन है।'' वे शिष्यों को साधन सम्बन्ध में भी किसी प्रकार के बन्धन में रखने के इच्छुक न थे। जब कोई शिष्य स्वयं कहता था कि वह माला की सहायता से संख्या की गणना करने का इच्छुक है अथवा माला की सहायता से नियमित संख्यक जप का अभ्यास करनेसे वह चाञ्चल्य और निद्रावेश के आक्रमण से सहज ही अपनी रक्षा कर सकेगा, नियमानुवर्तिता के अनुशीलन में सुविधा होगी एवं जपका समय और संख्या क्रमशः बढ़ाई जा सकेगी, तो गुरुदेव प्रसन्नदृष्टि से उसको अनुमति प्रदान कर देते थे, प्रयोजन होने पर संख्यागणनादि का नियम भी सिखला देते थे, माला स्पर्श करके उसमें शक्ति सञ्चार भी कर देते थे। इन सब विषयों में शिष्यों की रुचि और विचार के विरुद्ध उनका किसी प्रकार का अनुशासन नहीं होता था। वे कहते थे ''जिसका जैसा संस्कार''

जप का समय

जप के समय के सम्बन्ध में योगिराज जी का यह निर्देश था कि, ''सबेरे और शाम एक घंटा, आधा घंटा, पाव घंटा, जितना फुरसत हो जप करना।'' प्रेमघनमूर्ति सद्गुरुवरिष्ठ गम्भीरनाथ अपने दुर्बल शिष्यों के संसार-भारपीड़ित कन्धों पर कभी भी किसी प्रकार के आदेश का बोझा लादना नहीं चाहते थे, उनको कभी कोई ऐसी विधि या निषेध नहीं देते थे, जिसको कार्यतः प्रतिपालन करने में असमर्थ होकर वे अपराधग्रस्त हो सकें। योगिराज जी के शिष्यों से और कोई अपराध भले ही हो जाय, परन्तु

गुरुवाक्यलंघन जनित अपराध से लिप्त होने की सम्भावना नितान्त कम ही रहती थी। धन्य उनकी करुणा! वे शिष्यों की जिज्ञासा के उत्तर में भी जो उपदेश प्रदान करते थे, वह भी ऐसी भाषा में इस प्रकार प्रकाशित होता था कि उनकी स्वाधीनता पर कोई हस्तक्षेप न हो, उनका दायित्व-ज्ञान किसी प्रकार क्षुण्ण न हो।

स्वाधीनता और दायित्व

शिष्यों के प्रति योगिराज जी के सब उपदेशों और व्यवहारों से अभिप्राय व्यक्त होता था कि यही शिष्यगण अपने जीवन परिचालन के सम्बन्ध में सम्पूर्ण स्वाधीन रहें, स्वाधीन विचार, स्वाधीन इच्छा और स्वाधीन चेष्टा के यथोचित प्रयोग द्वारा स्वयं स्वाधीन रूप से अपनी गतिविधि नियन्त्रित करके कल्याणमार्ग पर अग्रसर हों। जितना फुरसत हो, जप करना, यह उपदेश भी उसी अभिप्राय को प्रकट करता है। इसमें एक ओर वे जिस प्रकार शिष्यों की साधना के समय के सम्बन्ध में पूर्ण स्वाधीनता प्रदान करते थे, दूसरी ओर उनके दायित्व-बोध को सर्वदा जागरूक रखने के लिये भी इङ्गित करते थे। वस्तुत स्वाधीनता और दायित्व एकही वस्तु है, अथवा एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। अधिकार शब्द से स्वाधीनता और दायित्व दोनों ही भाव परिस्फुट होते हैं। जो जिस मात्रा में स्वाधीनता सम्भोग करता है, उसके ऊपर भगवद्विधान से उसी मात्रा में कर्तव्य का भार अर्पित होता है एवं कर्तव्य सम्पादन में दायित्व-ज्ञान जिसका जिस मात्रा में विकसित होता है- अर्थात् जो विचार से कर्त्तव्याकर्त्तव्य निर्णय करके स्वाधीनरूप से निर्भीक दृढ़ता के साथ मंगलमार्ग पर अग्रसर होने में और अमंगल के प्रलोभन से आत्मरक्षा करने में जितनी ही अधिक शक्ति प्राप्त करते हैं-वे उसी मात्रा में स्वाधीनता सम्भोग के योग्य हो जाते हैं। दायित्व-ज्ञान का अनुशीलन ही स्वाधीनता का अनुशीलन है। गुरुदत्त या भगवत्प्रदत्त स्वाधीनता के अपव्यवहार से प्रकृति राज्य में पराधीनता अवश्यम्भावी होती है।

फुरसत का परिमाण

जितना फुरसत हो, जप करना - इस उपदेश द्वारा गुरु जी शिष्यों की विचारदृष्टि निज-निज व्यवहारिक जीवन की ओर सुतीक्ष्ण रूप से आकर्षण करते थे । गृहस्थ

शिष्यगण यदि विचार दृष्टि से आत्म – पर्यवेक्षण करके धारणा करने का यत्न करें कि उनके अवसर का यथार्थ परिमाण क्या है, कितना समय वे आलस्य में, गप्प-सप्प में, परचर्चा में, वृथा आमोद-प्रमोद में, नानाविध अनावश्यक वस्तुओं की उपार्जन-चेष्टा में एवं विवेकहीन लोगों से वाह-वाह पाने के उद्देश्य से निरर्थक कर्माडम्बर के आयोजन में अतिवाहन करते हैं, तो ऐसा वे सहज ही समझ सकेंगे कि सांसारिक प्रयोजनीय कर्त्तव्यों का यथाविधि सचारु रूप से निर्वाह करके भी एवं प्रयोजनानुयायी आहार, निद्रा विश्रामादि के लिये यथेष्ट समय रखकर भी प्रत्येक शिष्य के पास जितना समय रहता है, उसे इस प्रकार वृथा नष्ट न करके गुरुपदेशानुसार साधन-भजन में लगाने के लिये किसी के पास साधन, समय कम नहीं रहता। यह कहना कि हम संसार का भार वहन करते हुए साधन के लिये अवकाश ही नहीं पाते – बहुतों के विषय में भित्तिहीन होता है, यह बात विचार-दृष्टि से सहज सिद्ध हो जाती है। वस्तुतः बहुकर्मविव्रत संसारबद्ध लोगों के पास भी जितना अवकाश रहता है उसका यदि अपव्यय न हो और साधन में अनुराग रहे तो गुरुकृपा से क्रमशः साधनानुकूल अवसर बढ़ता जाता है एवं आभ्यन्तरीय और पारिपार्श्विक सभी अवस्थाएँ ही साधन की सहायक हो जाती हैं। जप करते-करते जितना नाम में स्वाद मिलने लगता है, चित्त में भगवद्भक्ति का विकास होता है एवं भगवदुपासना जीवन का प्रधान कार्य जान पड़ने लगती है, उतना ही उपासना के लिये अवसर भी अधिक मिलता जाता है, संसार के बहुत से आपातप्रयोजनीय कार्य नितान्त अप्रयोजनीय बोध होने लगते हैं, भोगार्थ कर्मसमूह अपने आप क्रमशः विदाई लेकर साधक को योगार्थकर्मसाधन का अवकाश देते रहते हैं। अन्तर्दर्शी गुरु गम्भीरनाथ जी शिष्यों को निर्दिष्ट समय के लिये साधन-भजन में व्यापृक्त रहने के लिये बाध्य न करके, उनको अपनी विचारदृष्टि से अवसर का निरूपण करके उस अवसर के समय का यथाशक्ति सद्व्यवहार करने का उपदेश देते थे। नियमनिष्ठा की रक्षा के लिये उपासना का उत्तम समय प्रातःकाल और संन्ध्याकाल का विशेष उल्लेख करते थे।

अविराम नामजप

योगिराजजी एक ओर जिस प्रकार शिष्यों को अवसर के अनुसार जप करने का

उपदेश देकर सम्पूर्णरूप से उनकी विचार-बुद्धि और दायित्वज्ञान पर निर्भर रह कर छोड़ देते थे, उसी प्रकार दूसरी ओर नामसाधना के आदर्श को प्रश्नोत्तर के बहाने उनके मानसचक्षु के सम्मुख समुज्ज्वल रूप में उपस्थापित करते थे। वे समझा देते थे कि किसी नियमित समय में निर्दिष्ट काल के लिये जप करने से ही नाम साधना नहीं होती, दिन -रात के बीच केवल थोड़े काल के लिये नाम-जप में मनोनिवेश करके बाकी सब समय स्वेच्छा से विषय -रस में डूबे रहने से नाम की शक्ति और माधुर्य का अनुभव नहीं होता, अन्तःकरण नाममय नहीं होता, साधना की पूर्णता नहीं होती, जीवन कृतार्थ नहीं होता। अविराम नाम-जप ही प्रकृष्ट साधन है। खाते-सोते, बातचीत करते-करते, रास्ता चलते-चलते, काम करते-करते सर्वदा सब अवस्थाओं में नाम स्मरण की चेष्टा करने से शीघ्र-शीघ्र उन्नति प्राप्त होती है। प्रत्येक श्वांस के साथ नाम जप हो सके तो उत्तम है। श्वांस-ग्रहण के साथ-साथ अचिन्त्यशक्ति समन्वित नाम मानो भीतर प्रवेश करके शरीर-इन्द्रिय और मन के प्रत्येक रन्ध्र में अनुप्रविष्ट हो जाता है एवं समग्र सत्ता को भगवद्भावभावित और भगवद्भक्ति रससिक्त कर देता है। नाम-जप का अभ्यास इस प्रकार करना आवश्यक है कि नाम-जप में किसी विशेष आयोजन या प्रयत्न की आवश्यकता न हो, अपने अनजाने में भी मन मानों स्वभावतः ही नाम जप में निरत रहता हो। अनेक साधक इस प्रकार नामसाधन का अभ्यास करते हैं, बड़े-बड़े सांसारिक कर्मों में गंभीरता के साथ व्यापृक्त रहने के समय भी, यहाँ तक कि निद्रा की अवस्था में भी, स्वतः ही उनका जप चलता रहता है। नाम की शक्ति से मन का धर्म बदल जाता है, नित्यनिरन्तर भगवद्भावाविष्ट बना रहना ही उसका स्वभाव हो जाता है। शरीर यदि अपवित्र रहे, इन्द्रियाँ यदि चंचल रहें, मन यदि बुरे विचारों से अभिभूत हों, तो भी नाम का त्याग नहीं करना चाहिये। नाम को किसी से भी अपवित्र नहीं किया जा सकता, नाम नित्यशुद्ध, नित्यमुक्त और महाशक्ति का आधार होता है। सब अवस्थाओं में नाम का संग करते-करते नाम ही देहेन्द्रिय-मन की पवित्रता, स्थिरता और आत्मनिष्ठता सम्पादन करके अपने स्वरूप का प्रकाश करेगा। नित्यनिरन्तर नामसाधन में अभ्यस्त होने पर और किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती, किसी शक्ति या प्रकिया की सहायता लेने की भी आवश्यकता नहीं रहती।

नामसाधन और योगाभ्यास

प्राणायाम धारणाध्यानादि योगाभ्यास की आवश्यकता के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर अनेक शिष्यों को उत्तर मिलता था, "नाम जप करते रहो, नाम से शनैः शनैः सब आ जायेगा।" ऐकान्तिक निष्ठा और अनुराग के साथ नाम जप करते-करते प्राण का कार्य अपने आप नियमित होता जाता है, चित्त नामानन्दरस के आकर्षण से विषय विमुख होकर भगवत्स्वरूप की धारणा करने की योग्यता प्राप्त करता है एवं क्रमशः भगवान् में निश्चला स्थिति प्राप्त कर लेता है। योग के सभी प्रयोजनीय अंग नाम-साधना के साथ-साथ अभ्यस्त होते जाते हैं। नाम-साधक के लिये एक-एक करके योगांगों के अनुशीलन की आवश्यकता नहीं होती।

ध्यान

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदध्याम्यहम् ॥

नाम से ही ध्यान

योगिराज गम्भीरनाथ जी दीक्षा-प्रदान के समय शिष्यों को ध्यान के सम्बन्ध में साधारणतः कोई विशेष उपदेश नहीं देते थे, एकाग्रचित से नाम-जप करने और नाम के प्राणस्वरूप भगवान् का स्मरण चिन्तन करने का ही उपदेश देते थे। अचिन्त्यगुरुशक्ति द्वारा अनुप्राणित नाम की सर्वार्थसिद्धिक्षमता पर अटूट विश्वास रखकर चित्त को नाम में संलग्न रखने का प्रयत्न करने पर नाम के ही प्रभाव से चित्त की विजातीय क्लिष्ट वृत्ति के तरङ्ग प्रशमित हो जायेंगे, और सजातीयवृत्ति की निराविल धारा एकतान प्रवाह में बहने लगेगी, ऐसा भरोसा वे स्पष्ट भाषा में प्रदान करते थे। चित्तवृत्ति का तैलधारावत् एकतान प्रवाह ही ध्यान है। सुतरां नामसाधना के अंगरूप में ही ध्यान अपने आप होता है। तद्भिन्न साधक के संस्कारानुसार किसी मूर्ति विशेष का ध्यान, किसी प्रकार के भाव का आवेश, किसी प्रकार के लीलारस का आस्वादन, किसी तत्त्व की विशेष स्फूर्ति यदि किसी-किसी को आवश्यक हो, तो वह भी गुरुनिर्भरशील होकर नामसाधन करते करते गुरु की कृपा से और नाम की शक्ति से अपने आप अन्तःकरण में स्फुरित होगा, ऐसा इङ्गित भी योगिराज जी प्रदान करते थे ।

विशेष ध्यान में शिष्यों का औत्सुक्य

किन्तु ऐसा होने पर भी अनेक शिष्य नाम-जप की अपेक्षा ध्यान-धारणा को विशेष अन्तरंग साधना मानकर अपने विचार की इस धारणा के अनुसार वे जप के

सहकारि रूप में कुछ ध्यान करने के लिये समुत्सुक रहते थे और ध्येय निर्धारण के लिये गुरुदेव से उपदेश की प्रार्थना करते थे। कोई-कोई तो प्राचीन संस्कारवश केवल मन्त्रदीक्षा से मन तथा बुद्धि में परितोष न पाकर दीक्षा-अनन्तर तत्काल ही ध्यान के सम्बन्ध में जिज्ञासा करते थे, कोई-कोई तो नामसाधन करते-करते छः महीना, एक वर्ष अथवा उससे भी अधिक काल के बाद विशेष ध्यान की आवश्यकता अनुभव करते थे। नामसाधन में संलग्न किसी-किसी शिष्य के मानसपटल के सम्मुख अपनेआप किसी ज्योतिर्मयी मूर्ति का आविर्भाव होता था, किसी-किसी की वुद्धि में कोई तत्त्व-विचार अपने आप स्फुरित होकर उसे तन्मय कर देता था, विशेष संस्कारसम्पन्न साधनशील शिष्यों की विचारधारा, भावधारा और कर्म की धारा एक-एक विशेष दिशा में प्रवाहित होती थी। नामनिहित गुरुशक्ति नाम-साधना के साथ-साथ शिष्यों के पूर्वार्जित संस्कार को उद्‌बद्ध करके भिन्न-भिन्न व्यक्ति को एक-एक भाव से भावित कर देती थी। वे लोग अपने आभ्यन्तरीय भावों को गुरुदेव के चरणों में निवेदन करके उपदेश की प्रार्थना करते थे।

अधिकारानुसार ध्यानोपदेश

गुरुदेव जिज्ञासु शिष्यों के अधिकार और स्वधर्म की विवेचना करके जिसके लिये जब जिस प्रकार के उपदेश का प्रयोजन होता, उसको तव उसी प्रकार का उपदेश देते थे। एक ही समय में एक ही प्रश्न के उत्तर में वे कदाचित् तीन शिष्यों को तीन मार्ग का निर्देश करते थे, एक ही शिष्य को एक ही प्रश्न के उत्तर में कदाचित् एक वर्ष पूर्व एक प्रकार का उपदेश तथा एक वर्ष बाद अन्य प्रकार का उपदेश देते थे। जिसके लिये जब जो स्वभाव के अनुकूल और अनायास साध्य होता था, वे उस समय उसके लिये वैसा ही विधान करते थे। इस प्रकार विभिन्न प्रकृति विशिष्ट और साधन के विभिन्न स्तरों पर अवस्थित शिष्य गुरुदेव के निकट ध्यान के सम्बन्ध में जो विभिन्न प्रकार के उपदेश प्राप्त करते थे, उनमें से जितना धारण तथा हृदयंगम कर सका हूँ, वही श्रद्धालु विचारवान् और साधनशील तत्त्वजिज्ञासुओं के आस्वादन के निमित्त उपस्थित करने का प्रयत्न करूंगा।

नाम ध्यान

(1) नाम भगवान की मूर्ति है एवं मूर्ति और मूर्तिमान् अभिन्न हैं, ऐसी सुदृढ़ धारणा करके नाम-ध्यान का अभ्यास किया जाता है।

नामोच्चारण से जो ध्वनि होती है, वह भगवान् की शब्दमयी मूर्ति है एवं मन्त्राक्षरावयवसमन्वित नाम भगवान् की रूपमयी मूर्ति है । सुतरां नामध्यान दो प्रकार से किया जा सकता है।

(क) नाम की शब्दमयी मूर्ति का ध्यान या नाद-ध्यान। नेत्रनिमीलनपूर्वक प्रसन्न और प्रशान्तचित्त से यह भावना करनी चाहिये कि नाम अपनेआप हृदय-प्रदेश में अनाहत रूप से ध्वनित हो रहा है एवं मन को सब प्रकार के चिन्तन से प्रत्याहृत करके उसी नादश्रवण में रत करना चाहिये। मन मानों श्रोत्रमय होकर उसशब्दमयी मूर्ति के साथ एकीभाव को प्राप्त हो गया है, अथवा चित्त मानो एक निराविलधारामयी स्रोतस्विनी हैं एवं एक मात्र गुरु दत्त नाम ही उसका स्वच्छ सलिल है। यह नाम-स्मृति समस्त चित्त को भरपूर करके निस्तरंग निर्मल और अविच्छिन्न धारा में प्रवाहित करती रहेगी। केवल प्रणवस्मृतिधारा के अवलम्बन से भी ऐसा ध्यान किया जाता है। नाम में जितनी ही तन्मयता रहेगी, ध्यान उतना ही प्रगाढ़ होगा। इस प्रकार भक्ति, विश्वास, दृढ़ता और एकाग्रता के साथ अभिन्नात्मक नाम नामी की शब्दमयी मूर्ति से चित्त को समाहित करते-करते नाम के पारमार्थिक स्वरूप भगवान् साधक के विशुद्ध हृदय में आत्म प्रकाश करते हैं।

नाम की रूपमयीमूर्ति का ध्यान

इस ध्यान में ऐसी भावना करना आवश्यक है कि परमदेवता परमेश्वर वर्णावयवविशिष्ट जीवन्त ज्योतिर्मय मन्त्ररूप धारण करके मुझे कृतार्थ करने के लिये हृदय-कमल पर आविर्भूत हुए हैं। इस भाव में भावित होकर मन को नेत्रमय करके सब विषयों से दृष्टि प्रत्याहारपूर्वक उसी रूप के दर्शन में निमज्जित कर देने की आवश्यकता होती है । नाम की समुज्वल मूर्ति की स्निग्ध ज्योति में अन्तःकरण के मल विक्षेप और आवरण दोष नष्ट हो जाते हैं एवं क्रमशः परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होता है।

अधिकारानुरूप साकार और निराकाररूप ध्यान

(2) जो लोग भगवान् के रूप का ध्यान करने के समुत्सुक हों, वे अपनी रुचि के अनुसार चक्षुग्राह्य साकार रूप का भी ध्यान कर सकते हैं और मनोग्राह्य निराकार रूप का भी ध्यान कर सकते हैं। उपासक के निकट भगवान् साकार भी हैं एवं वे साकार और निराकार दोनों ही रूपों में प्रकट होकर साधक को कृतार्थ कर देते हैं। साधक की प्रकृति, रुचि, बुद्धि और संस्कार के अनुसार जिस प्रकार के रूप का ध्यान उसकी साधना के अनुकूल हो, चाहे साकार चाहे निराकार, जिस रूप में अभीष्ट देवता का ध्यान करने से साधक का चित्त सहज ही आकृष्ट और तन्मय होकर विषयासक्तिपरिहार पूर्वक ब्रह्मानन्दरसास्वाद का अधिकारी हो जाय, उसी रूप को ध्येय बनाना उचित है एवं तदनुरूप भाव का ही अवलम्बन करके भगवान् में चित्त का समाधानकरने में प्रयत्नशील होना चाहिये। संस्कार और शिक्षा के अनुसार कोई-कोई साधक साकार प्रिय होते हैं और कोई-कोई निराकार प्रिय। निराकार प्रिय साधक ऐकान्तिक निष्ठा और आग्रह के साथ भगवान् के निराकार रूप का ध्यान करते करते भी पूर्वार्जित अन्य प्रकार के संस्कार के प्रभाव से अप्रत्याशित रूप में किसी-न-किसी साकार रूप का साक्षात्कार प्राप्त कर सकते हैं एवं तत्सहगामी गुणलीलाभावादि का भी आस्वादन पा सकते हैं। इसी प्रकार साकार ध्यान में निरत रहकर भी किसी - किसी साधक का चित्त निराकार में मग्न हो सकता है एवं तदवस्थी चित्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का आस्वादन कर सकता है। पुनश्च, किसी निर्दिष्ट साकार रूप का ध्यान करते समय भी उसके मनश्चक्षु के सम्मुख ध्यान की अविषयीभूत दूसरी किसी साकार मूर्ति का आविर्भाव हो सकता है एवं उसे विशेष रसों का सम्भोग करा सकता है।

निर्विशेष ब्रह्म साकार निराकार से अतीत है

यह स्मरण रखना चाहिये कि साकार और निराकार दोनों ही भगवान् के रूप

हैं एवं रूपमात्र ही निर्विशेष सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा को सविशेष भाव में साधक के निकट उपस्थित करते हैं। साधक का चित्त जब तक अविद्या के आवरण से सम्यक् मुक्त होकर भगवान् के पारमार्थिक निर्विशेष स्वरूप की उपलब्धि नहीं करता, तब तक कभी साकार कभी निराकार रूपावलम्बन में वे प्रतीत और आराधित होते रहते हैं। साधक की आत्मा जब सर्वबन्धनविनिर्मुक्त होकर और मनोराज्य के सभी द्वैतभाव की उपाधियों का अतिक्रम करके सर्वभावातीत निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त कर लेती है; तब साकार रूप भी नहीं रहता, निराकार रूप भी नहीं रहता, तब ध्याता-ध्येय भी नहीं रहता, ज्ञाता-ज्ञेय भी नहीं रहता, आवाङ्मनस गोचरं एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म निरुपाधिक स्वरूप में ही विराजमान् रहता है।

साकार ध्यान में रुचि की अनुकूल मूर्ति अवलम्बनीय

(3) साकार रूप के ध्यान में जिनकी अभिरुचि हो, वे अपनी विशेष रुचि और संस्कार का विचार करके शिव, विष्णु, दुर्गा, काली आदि कोई शास्त्र प्रसिद्ध और महापुरुषाराधित देवमूर्ति अथवा राम, कृष्ण, नृसिंह आदि कोई अवतार मूर्ति किंवा किसी ब्रह्मभाव भावित जीवन्मुक्त पुरुष की मूर्ति का ध्येयरूप में अवलम्बन कर सकते हैं। ये सब भिन्न-भिन्न देवता नहीं हैं, एक अद्वितीय परम देवता की ही गुण लीला-शक्तिमयी साकार मूर्तियाँ हैं। रूप बहुत हैं, स्वरूप एक ही हैं ।इन सबका कोई स्वरूपगत् पार्थक्य नहीं है, केवल रूपगत् वैशिष्ट्य हैं। ये सब बाहर भिन्न भिन्न हैं, भीतर एक ही हैं। इन सब मूर्तियों में से किसी मूर्ति का भगवद्बुद्धि से ध्यानऔर अर्चना करने से भगवान् की ही ध्यान-अर्चना होती है। तात्विकी बुद्‌धि ठीक रहने पर एक मूर्ति की पूजा से सब मूर्तियों की पूजा हो जाती है, क्योंकि पूजा होती है मूर्तिमान् की, एवं सब मूर्तियाँ मूर्तिमान से अभिन्न हैं।

मूर्तिविशेषावलम्बन की सार्थकता

प्रत्येक मूर्ति ही भगवान् का रूप है और भगवान् से अभिन्न है, किन्तु प्रत्येक मूर्ति का ही भागवत् वैशिष्ट्य होने से साधक-प्रकृति के वैशिष्ट्यानुसार साधना का

सुफल प्रदान करने के विषय में भी उनकी विशेष सार्थकता है। अनन्त लीला के परम आश्रय परमात्मा के एक-एक प्रकार की भावशक्ति और लीला के जीवन्त विग्रह-रूप में एक-एक मूर्ति का आविर्भाव है। एक-एक श्रेणी के साधकों की प्रकृति के साथ एक-एक जातीय भाव शक्ति लीला का विशेष आध्यात्मिक सम्बन्ध विद्यमान देखा ज़ाता है। तदनुसार ही उनकी अभीष्ट ध्येय मूर्ति का निर्धारण होता है। अपनी रुचि और बुद्धि के अनुकूल विशेष मूर्ति के अवलम्बन से ध्यान, आराधना में प्रवृत्त होकर साधक, भगवान् का भक्त चित्ताकर्षक विशेष प्रकार की शक्ति और विभूति का खेल ही प्रधानत: अनुभव करता है एवं उसके भीतर से ही तत्त्व विचार की सहायता से और आराध्य देवता की कृपा से क्रमश: भगवान् के तात्त्विक स्वरूप की उपलब्धि कर सकता है। इसी कारण साधक मात्र को ही अधिकार निर्विशेष एक ही भाव और एक ही प्रकार के ध्यान-धारणा का आदेश न देकर शास्त्र और आचार्यगण यथाभिमतध्यानम् का उपदेश करते हैं।

शास्त्रानुसरण से मूर्तिध्यान की उपकारिता

शास्त्र में जिस मूर्ति का जैसा वर्णन है, तदनुवर्ती होकर ध्यान करना ही संगत है। सम्यग्दर्शी ऋषि और आचार्यगण जिस मूर्ति को जिस प्रकार रूपगुणों से भूषित करके उपस्थित किये हैं, जिस मूर्ति के भीतर से जिस प्रकार के भाव और रस का विकास प्रदर्शन किये हैं, जिस मूर्ति के साथ जिस प्रकार की शक्ति और लीला का नित्य सम्बन्ध स्थापना किये हैं एवं जिस मूर्ति में, जिस भाव में भगवान का चिन्तन करके कृतार्थ हुए हैं, उन्हीं के पदाङ्क का अनुसरण करते हुए उसी मूर्ति का उसी भाव में ध्यान, धारणा और भजन करने से सहज ही समधिक कल्याण-प्राप्ति की सम्भावना रहती है। किन्तु परकल्याण का भी उदारहृदय साधक को उपासना काल में सर्वदा ही स्मरण रखना चाहिये कि दूसरे देवताओं से पृथक् एक विशिष्ट देवता की उपासना नहीं हो रही है, अपितु सर्वान्तर्यामी सर्वभावमय भगवान् को ही अपनी विचार शक्ति की अपूर्णतावशत: विशिष्ट नाम और रूप में ध्यान और उपासना की जा रही है। अन्त:करण को भी उसी नाम और मूर्ति के साथ संश्लिष्ट कुछ विशेष गुण, शक्ति और लीला के संकीर्ण घेरे के भीतर आबद्ध करके रखना उचित नहीं; उनके भीतर आंशिक भाव से प्रकटित एवं

परमार्थतः उनके अन्तराल में विराजमान गुणातीत भावातीत सर्वशक्तत्याधार नित्यसत्यज्ञानानन्दमय के स्वरूप की ओर ही सर्वदा लक्ष्य स्थिर रखने में प्रयत्नशील रहना चाहिये। ऐसा होने पर क्रमशः रूपचिन्तन की सहायता से ही चित्तशुद्धि के साथ-साथ रूप को अतिक्रम करके स्वरूप के साक्षात्कार लाभ की योग्यता प्राप्त होगी।

नाम और मूर्ति

इस प्रकार का उपदेश पाकर कोई-कोई शिष्य आश्चर्यचकित होकर ऐसी शंका उठाते थे कि विशेष-विशेष नामों के साथ विशेष-विशेष मूर्तियों का और भावों का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। हमारे अन्तःकरण में भी चिरार्जित संस्कार के प्रभाव से एक-एक नाम के साथ एक-एक मूर्ति के वाच्यवाचक सम्बन्ध की धारणा दृढ़रूप से अङ्कित हो गई है। काली नाम उच्चारण करने से स्वभावतः ही हमारे मानस-चक्षु के सम्मुख जो मूर्ति चमक उठती है, शिव-नामोच्चारण से या हरिनामोच्चारण से वह नहीं होती। शास्त्र में भी विशिष्ट मूर्तियों के साथ विशिष्ट नामों का योग स्थापित है। अब, गुरुदेव ने हमें जिस मन्त्र में दीक्षित किया है, उसके उच्चारण या स्मरण करने से एक प्रकार की मूर्ति हमारे चित्तपट पर उदित होती है, तथापि किसी शिष्य के रुच्यनुसार उसका मन कदाचित् ऐसी किसी देवमूर्ति या महापुरुष- मूर्ति के प्रति आकृष्ट और अनुरक्त हो, जिसके साथ दीक्षामन्त्र का कोई सम्पर्क नहीं देखा जाता, जो दीक्षामन्त्र के स्मरण से मानसपट पर स्वभावतः प्रकाशित नहीं होती। ऐसे क्षेत्र में शिष्य यदि दीक्षामंत्र के जप के साथ-साथ अपनी अभीप्सित मूर्ति का ही ध्यान करने की चेष्टा करे, तो क्या यह अस्वाभाविक नहीं होगा ? इसमें क्या साधन के दो प्रधान अंगों के बीच विरोध नहीं रहेगा ? इसमें क्या कल्याणमार्ग में विघ्न उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं होगी ? इस शंका के उत्तर में सर्वसंस्कार विनिर्मुक्त समदर्शी योगिराज जी उपदेश देते थे कि यदि मन्त्र को एक देवता विशेष का नाम और मूर्ति को दूसरे एक देवता विशेष की मूर्ति या रूप मानने का संस्कार रहता है, तो अस्वाभाविक भी होता है, विरोध भी होता है और विघ्न भी होता है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इस कुसंस्कार को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। नाम बहुत हो सकते हैं, रूप भी बहुत हो सकते हैं, किन्तु आराध्य देवता एक हैं, उसी को उपलब्धि-गोचर कराने के लिये नामों की और नाना रूपों की सृष्टि हुई,

परन्तु वह परमतत्त्व तो एक ही है। सद्गुरु की वाक्-शक्ति को अवलम्बन करके जो चैतन्यमय मन्त्र शिष्य के निकट अवतीर्ण होता है, वह तो देवता विशेष का नाम नहीं हैं, वह तो और अनेकों नामों में से एक नाम मात्र है ऐसा नहीं समझना चाहिये, वह तो साधक को कृतार्थ करने के लिये मन्त्र रूप में स्वयं परमार्थ स्वरूप भगवान् का आविर्भाव है। उसी परम लक्ष्य भगवान् में चित्त को स्थिर करने के लिये एवं उनको दृष्टिगोचर रूप में उपलब्ध करने के लिये ही तो मूर्ति विशेष को अवलम्ब रूप में ग्रहण किया जाता है। इसी उद्देश्य से पुरुष मूर्ति, स्त्रीमूर्ति, देवमूर्ति या मनुष्यमूर्ति हो, जिस किसी मूर्ति को ध्येय रूप में ग्रहण किया जाय, उसी मूर्ति के साथ गुरु कृपालब्ध नाम की अभिन्नता की धारणा करना आवश्यक होता है। जप्य नाम के जो नामी हैं, वे ही ध्येय मूर्ति में मूर्तिमान् भी हैं। नामजप और मूर्तिध्यान दोनों ही कालों में ऐसी धारणा रखनी चाहिये कि मैं स्वयं भगवान् की उपलब्धि कर रहा हूँ।

१- शिवमूर्ति का ध्यान

योगिराज गम्भीरनाथ जी के साकार रूप ध्यान सम्बन्धी उपदेश की धारा को लक्ष्य करने से बीच-बीच में ऐसा बोध होता था कि वे मानो शिवमूर्ति के ध्यान के कुछ विशेष पक्षपाती थे। जो शिष्य अपने अन्तर में किसी मूर्तिविशेष के प्रति अनुरक्त न होता था, परन्तु गुरुनिर्दिष्ट किसी मूर्ति को ध्येय रूप में ग्रहण करने के लिये व्यग्रता प्रकट करता था, उसको वे साधारणतः यही उपदेश देते थे कि शिवजी का ध्यान अच्छा है। शिव योगीश्वर हैं; वे योगी, ज्ञानी, संन्यासी और मुमुक्षुओं के आदर्श हैं। वे नित्य एक रूप रहते हैं। महायोगीश्वर शिव के तत्वज्ञानदीप्त और परमानन्दमय परवैराग्यप्रतिष्ठ और परमप्रेममण्डित, आत्मसमाहित और जीवानुग्रह तत्पर, प्रशान्त मधुर और ज्योतिर्मय महामूर्ति का ध्यान करते-करते तन्मयता प्राप्त हो जाने पर, संसारासक्ति अपने अनजाने में ही विनष्ट हो जाती है, अन्तःकरण अनायास ही सब संकीर्णता, रागद्वेष और अभिमान से अव्याहति पा जाता है, सहज ही अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द की स्फुरणा होती है, एवं विश्वहित में स्वार्थत्याग की प्रवृत्ति स्वभाव बन जाती है। मुक्ति-पिपासु के लिये नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव शिव की मूर्ति का ध्यान और उनके भाव का स्मरण विशेष कल्याणप्रद है। [शिवमूर्ति का वर्णन और उसका तात्पर्य "ज्ञानमार्ग और योगमार्ग"

शीर्षक अभ्यास में किंचित विस्तृत भाव से आलोचित हुआ है]।

२- कुलदेवता ध्यान

जो लोग वंश परम्पराक्रम से किसी मूर्ति विशेष के उपासक होते थे, उन सब गृहस्थ शिष्यों को योगिराज जी कुल देवता-मूर्ति का ही ध्यान करने का उपदेश देते थे। तदनुसार वे किसी को कृष्णमूर्ति किसी को कालीमूर्ति, किसी को दुर्गामूर्ति या अन्नपूर्णामूर्ति का ध्यान करने का उपदेश देते थे। ऐसे स्थलों में प्रायः सर्वदा ही देखा जाता था कि निर्दिष्ट मूर्ति शिष्य की कुल-देवता या कुलदेवी होती थी। जो लोग पहले कुल-गुरु के निकट दीक्षा-ग्रहण करके बाद में आध्यात्मिक पिपासा की अनिवृत्ति के कारण योगिराज के शरणापन्न होते थे, उनको वे कुल-गुरु-प्रदत्त मन्त्र को भी याद (स्मरण) रखने का उपदेश देते थे एवं कुल-गुरु के सम्मान का लांघन करने का निषेध करते थे।

३- गुरुमूर्ति ध्यान

योगिराज जी के अनेक शिष्य गुरु- मूर्ति ध्यान के प्रति विशेष आकृष्ट होते थे। अहैतुक कृपानिधि गुरुदेव को ही सर्वदेवमय परमाश्रय ज्ञान प्रेम मुक्ति दाता परमाराध्य समझ कर शरीर, मन, वाणी द्वारा उपासना करने से, परम ब्रह्म-भाव के प्रत्यक्ष जीवन्त विग्रह स्वरूप उनके निर्विकार और सदानन्द, समाधिगर्भनिमज्जित और सर्वजीवकल्याणोन्मुख, ज्ञानगम्भीर और प्रेममधुर, सुमनोहर मूर्ति का हृदय में ध्वनि करने से उनका चित्त सहज ही तद्भावभावित हो जाता था तथा अनिर्वचनीय आनन्द से भरपूर हो जाता था। अनेक साधनशील शिष्य दीक्षा के दूसरे क्षण से ही आहार में, विहार में, शयन में, स्वरूप में, कर्म में, विश्राम में, सर्वदा सब अवस्थाओं में गुरुदेव के परमशान्तिप्रद सान्निध्य का अनुभव करते थे, इसके लिये उनको कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती थी। अनेक लोग ऐसा अनुभव करते थे कि नाना कार्यो में चित्त और इन्द्रियों के इतस्ततः विक्षिप्त करने के बाद भी जैसे ही दृष्टि जरा भीतर की ओर जाती थी, तैसे ही देखा जाता था कि हृदय-मन्दिर में गुरुदेव अपने स्वाभाविक आसन पर विराजमान हैं। वस्तुतः शिष्यों के हृदय में निहित भक्ति और प्रेम को इस प्रकार आकृष्ट कर लेते थे कि

उनके अन्य प्रकार के उपदेशों के रहते हुए भी बहुत लोग उनको छोड़कर अन्य किसी देवमूर्ति के ध्यान में उतना आनन्द नहीं पाते थे। ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः। यह शास्त्र वाक्य भी उन लोगों को उत्साहित करता था। इस सम्बन्ध में जो लोग स्वयं ही विशेष रूप से गुरुदेव की अनुमति माँगते थे, उनसे वे कहते थे कि "हाँ, वह भी कर सकते हो, विश्वास होने से होगा निश्चय।" अर्थात् गुरु को भगवान् मानकर विश्वास करने पर उसके ध्यान से भी निश्चय कृतार्थता प्राप्त होगी। गुरुमूर्ति को भी भगवान् की ही मूर्ति मानकर ध्यान करना आवश्यक है।

निराकार में साकार का प्रकाश

एक भक्त ने ब्रह्म समाज के सान्निध्य में रहकर शिक्षा प्राप्त की थी एवं कई वर्षों तक ब्रह्मसमाज की पद्धति के अनुसार उन्होंने उपासना की थी। इसी कारण निष्ठावान् देवदेवी विश्वासी हिन्दू-सन्तान होने पर भी उसकी श्रद्धा साकारोपासना में न थी। बहुत समय तक ब्रह्मसमाज के उपदेशानुसार निराकार ब्रह्म का ध्यान और उपासना की चेष्टा करके भी प्राणों में ब्रह्मसंस्पर्श तथा आध्यात्मिक क्षुधा का उपयुक्त आहार न पाकर, वे सद्गुरु के शरणापन्न होना आवश्यक समझने लगे एवं योगिराज गम्भीरनाथजी का अनन्य तथा असाधारण माहात्म्य सुनकर उनके निकट उपस्थित हुए। उन्होंने दीक्षाग्रहण के बाद अपने आध्यात्मिक जीवन का इतिहास संक्षेप में गुरुदेव के निकट विवृत करके साकार में वितृष्णा और निराकार में रति की बात विशेष रूप से निवेदित किया। गुरुदेव अपने स्वाभाविक आत्मसमाहित भाव में शिष्य की सारी कथा सुनकर एवं अन्तश्चक्षु द्वारा शिष्य के पुरुष परम्परा प्राप्त आभ्यन्तरीय संस्कार को देखकर, अन्त में मृदु गम्भीर स्वर में बोले, "अच्छा, जैसा करते हो वैसा ही करते रहो, मगर रूप आप से फूटेगा।" शिष्य ने सोचा कि शायद साधना करते-करते किसी एक अवस्था में अन्तर में रूप का प्रकाश होगा। किन्तु आश्चर्य की बात है कि इसके बाद तत्काल ही, ज्यों ही दृष्टि थोड़ी अन्तर्मुखी हुई, त्योंही उन्होंने देखा कि उनके अनजान में ही सम्पूर्ण हृदय को आलोकित करके गुरुदेव की ही सर्वावयवसम्पन्न ज्योतिर्मय सौम्यमूर्ति विराजमान है। उनके सारे जीवन की शिक्षा और अर्जित संस्कारों को पददलित करके गुरुदेव ने ऐसे अद्भुतरूप से उनके हृदय में आत्मप्रतिष्ठा की कि यह देखकर शिष्य चमत्कृत हो गया। इसके बाद

साकारोपासना में और मनुष्य को देवता का आसन प्रदान करने में उनका चिरसञ्चित विद्वेष तिरोहित हो गया। किसी प्रकार युक्ति, तर्क की सहायता से भी उस नर-रूप में प्रकट अभीष्ट मूर्ति को हृदय-मन्दिर से अपसृत न किया जा सका, अपितु वे संस्कार ही क्रमशः विलुप्त हो गये। तभी से बहुत दिनों तक जब भी दृष्टि हृदय के अभ्यन्तर में निहित होती, तभी उसके सम्मुख उसी सौम्यमूर्ति का प्रकाश होता एवं यह अनुभव होता कि यह गुरुदेव की अपरिसीम करुणा है और गुरुशक्ति का अपूर्व विकास है।

हृदय में चरण-कमल से ध्यान

ध्येयमूर्ति को कहाँ स्थापित करके ध्यान करना चाहिये एवं ध्येयमूर्ति के किस अंग से आरम्भ करना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में योगिराज जी कहते थे कि हृदय-कमल ही अभीष्ट देवता को बैठाने के लिये सर्वापेक्षा उपयुक्त आसन है, हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित करके अभीष्ट मूर्ति का ध्यान करना ही अच्छा है, हृदय में ही भगवान् का विशेष प्रकाश होता है एवं ध्येयमूर्ति का चरण-कमल से ध्यान आरम्भ करके क्रमशः उच्चतर अंगों का ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार सर्वावयव विशिष्ट समुज्ज्वलमूर्ति जब हृदय में प्रकाशित होने लगे तो मूर्ति और मूर्तिमान् का अभेद चिन्तन करते हुए उसी पर दृष्टि को निश्चल करके समाहित होने की चेष्टा करनी चाहिए।

४- विश्वरूप का ध्यान

जिनकी धारणा शक्ति यथोचित विकसित है, वे भगवान् के विश्वरूप का ध्यान कर सकते हैं। यह विराट् विश्व ब्रह्माण्ड ही उनका विश्वरूप है। भूलोक आदि ऊपर के सात लोक और पाताल आदि नीचे के सात लोक, ये चतुर्दश भुवन ही भगवान् की देह हैं; स्थावर जंगम, छोटे-बड़े, स्थूल, सूक्ष्म, सभी पदार्थ उनके अंग हैं। साधक को ऐसा ध्यान करना चाहिये कि उसके भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें, सामने-पीछे, सर्वत्र एक अद्वितीय भगवान् ही आत्मविस्तार करके नित्य विराजमान हैं एवं साधक स्वयं ब्रह्म-सागर के बिन्दु-रूप में स्थित है। खुली आँखों से विचरण करने के समय भी उसे ऐसी भावना करनी चाहिये कि वह जो कुछ देखता है, सुनता है, स्पर्श करता है, आस्वादन या आघ्राण करता है, उसमें भगवान् का ही दर्शन, श्रवण, स्पर्श,

आस्वादन और आघ्राण हो रहा है।

५- निराकार ध्यान

जो साधक भगवान् के निराकार रूप का ध्यान करने का अभिलाषी हो एवं जिसका अन्तःकरण स्थूल शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध का अतिक्रम करके निराकार की धारणा करने में सक्षम हो, उसको योगिराज जी भगवान् के सर्व अन्तर्यामी रूप का ध्यान करने का उपदेश देते थे। भगवान् जल-स्थल, आकाश-वायु, वृक्ष-लता, फूल-फल, कीट-पतंग, पशु-पक्षी, देव-मानव आदि सब पदार्थों के अन्तर्यामी निराकार सच्चिदानन्दमय परमात्मा हैं। नेत्र उनको देख नहीं सकते किन्तु उन्हीं की शक्ति से नेत्र देखने में समर्थ होते हैं, कान उनको सुन नहीं सकता, किन्तु उन्हीं की शक्ति से कान श्रवण-शक्ति सम्पन्न होता है, मन उनको अपने चिन्तन का विषय नहीं बना सकता, किन्तु उन्हीं के अन्तर्यामी रूप से वर्तमान रहने के कारण मन चिन्तन-समर्थ होता है। सब कुछ उन्हीं की सत्ता से सत्तावान है, वे सबके स्रष्टा, त्राता और आश्रय हैं। उनका कोई जड़ीय रूप या धर्म नहीं, किन्तु जड़ माल का अस्तित्व उन्हीं के अस्तित्व पर निर्भर करता है। वे ही एक मात्र नित्य चिन्मय स्वतन्त्र सत्ता विशिष्ट हैं और सब कुछ ही अनित्य है तथा सर्वांश में उन्हीं पर निर्भरशील है। सब पदार्थ और सभी व्यापारों के भीतर से उन्हीं का प्रकाश हो रहा है एवं सब अनुभूतियों के बीच से वस्तुतः हम उन्हीं की अनुभूति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म विचार की सहायता से भगवान् को सर्वान्तर्यामी समझ कर और धारणा करके स्थूल रूप का चिन्तन त्याग कर उनकी विश्वव्यापिनी वर्तमानता के बीच और तज्जनित आनन्द के बीच मग्न रखने की चेष्टा ही निराकार जप-ध्यान है। चित्त बहिर्मुख रहने पर एवं विचारशक्ति और धारणा शक्ति के उपयुक्त रूप में विकसित न होने पर निराकार ध्यान सम्भव नहीं होता। उसमें लय और विक्षेप दोनों की ही सम्भावना अधिक होती है। चित्त सजग रहे, तथापि जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, स्पर्श, आस्वाद या आघ्राण करते हैं, उसके बन्धन से अनुभूति को मुक्त करके, अन्तर्यामी सच्चिदानन्दमय आत्मा का अनुभव करना होगा एवं चित्त को तद्भावभावित और तद्रसरसित करना होगा। विचारशक्ति और धारणाशक्ति के यथोचित अनुशीलन द्वारा जड़ धर्म विनिर्मुक्त सच्चिदानन्द परमात्मा का चिन्तन करने की

सामर्थ्य प्राप्त होने पर एवं अभ्यास द्वारा गुरुदत्त नाम के साथ उसके अविच्छेद्य संयोग के प्रतिष्ठित कर सकने पर, उसी नाम के अवलम्बन से उसका ध्यान करना सुविधाजनक होगा। नाम-स्मरण मात्र से ही चित्त स्थूल विषय का परित्याग करके परमात्मा की धारणा में नियुक्त होगा, फिर ध्यान करते-करते जब भी चित्त अवसन्न या विक्षिप्त होकर ध्येय से विच्युत हो, तभी उसको अभ्यस्त नाम का स्मरण कराकर चित्त को उसके साथ युक्त कर देना चाहिये।

६- स्वरूप ध्यान

सद्गुरु गम्भीरनाथ जी ने बहुत ही थोड़े शिष्यों को सोऽहम् या अहंब्रह्मास्मि-ध्यान का उपदेश प्रदान किया था। उपर्युक्त निराकार ध्यान में ध्याता और ध्येय का पार्थक्य-अर्थात् जीवन और भगवान् का पार्थक्य स्वीकृत है। भगवान् विश्वात्मा हैं, मैं क्षुद्र हूँ, वे चित्समुद्र हैं, मैं चित्कण हूँ, वे सर्वाश्रय हैं, मैं और अन्य सब उनके आश्रित हैं, वे सर्वाराध्य हैं, मैं उनका दीन आराधक हूँ, वे अव्यक्त मूर्ति में मुझको भीतर बाहर से परिव्याप्त करके नित्य विद्यमान हैं, जान बूझकर स्वेच्छा से उनके निकट आत्मसमर्पण में ही जीवन की सार्थकता है। जड़ के विशेष धर्म द्वारा वे परिच्छिन्न नहीं हैं, किन्तु वे जड़ के साथ सम्पर्क युक्त हैं, जड़ मात्र के ही अन्तर्यामी नियामक हैं। ऐसी धारणा के अन्दर मनोराज्य का द्वैतभाव अतिक्रान्त नहीं होता, सर्वभावविनिर्मुक्त चैतन्यस्वरूप में प्रतिष्ठा नहीं होती। इसमें भगवान् सगुण, सशक्ति, सविशेष सर्वैश्वर्य सम्पन्न मानकर ही आराधित होते हैं। यह ध्यान भक्ति मिश्रज्ञान मूलक है। विशुद्धचित्त उच्चाधिकारी भक्त, ज्ञानी और कर्मी सभी इस ध्यान से आनन्द प्राप्त कर सकते हैं और संसार-बन्धन से मुक्त हो सकते हैं।

सोऽहम् या अहंब्रह्मास्मि ध्यान इससे पृथक् है। इस स्वरूप-ध्यान का उपदेश योगिराज गम्भीरनाथ जी कदाचित् ही प्रदान करते थे। जिसके चित्त में वे अद्वैत मतवाद का संस्कार विशेष परिस्फुट देख पाते थे, केवल मात्र उन लोगों को ही अतिनिभृत में इस ध्यान का उपदेश देते थे। यह ध्यान वस्तुतः आत्मस्वरूप का ध्यान है। इसमें सुतीक्ष्ण

विचार की सहायता से जगत् का मिथ्यात्व निरूपण करके, प्रवल इच्छाशक्ति के प्रयोग से बहिर्जगत् के सब पदार्थों का बोध तक सम्पूर्ण रूप से विलुप्त करके नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सर्वगुणातीत निर्विशेष सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा में चित्त का समाधान करना आवश्यक होता है। इस ध्यान में ध्यान स्वयं ही ध्येय, ज्ञाता स्वयं ही ज्ञेय होता है एवं उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, कोई उपाधि नहीं होती है। द्वैतभावलेशविहीन आत्मा में कोई गुण का सम्पर्क नहीं, शक्ति का सम्पर्क नहीं, ऐश्वर्य का सम्पर्क नहीं। वह निर्गुण निःशक्तिक, निरुपाधिक और निर्विशेष है। ध्याता एकमात्र निज में ही विद्यमान रहता है और दूसरे किसी की विद्यमानता नहीं होती। भाषा में 'सःअहम्', 'अहं-ब्रह्म अस्मि', इस प्रकार उपदेश दिया जाने पर भी ध्यानाभ्यास काल में अहं और ब्रह्म का पृथक्-पृथक् चिन्तन करके फिर उनके ऐक्य की भावना नहीं करनी पड़ती। चित्त को सम्पूर्ण रूप से निर्विषय करके, सब चिन्तन विरहित होकर, आत्मस्वरूप में स्थित होना पड़ता है। गुरु और शास्त्र के उपदेश-श्रवण एवं युक्तियुक्त विचार की सहायता से मनन करते-करते पहले ही ऐसे निःसंशय सिद्धान्त पर पहुँचना आवश्यक होता है कि सर्वोपाधिविनिर्मुक्त भगवान् या ब्रह्म एवं सर्वोपाधिविनिर्मुक्त अहम् जीव या आत्मा स्वरूपतः एक ही हैं- आत्मा ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही आत्मा है, केवल मात्र माया से ही एक निर्विशेष ब्रह्म व आत्मा मायाधीश जगत्पति परमेश्वर है और मायाधीन जगत्परिवेष्ठित अहम् जीव रूप में द्विधा या बहुधा प्रतीयमान होता है। तदनन्तर सब प्रकार के गुण शक्ति ऐश्वर्य आदि मायिक उपाधियों की स्मृति निराकरण पूर्वक आत्म स्वरूप में अवस्थिति की अविच्छिन्न प्रचेष्टा ही 'सोऽहम्' ध्यान या स्वरूप -ध्यान है।

योगिराज जी इस उपलक्ष में कहते थे कि चाहे 'मैं' रक्खो चाहे 'उनको' रक्खो, दोनों मत रक्खो। 'उनको' (अर्थात् मुझसे भिन्न अन्य पुरुष विशेष भगवान् को) छोड़कर एक मात्र सर्व सम्बन्ध विहीन अहम् या आत्मा के रखने से भी अद्वैत सिद्ध हो जाता है, अनेक ज्ञानपन्थी वही करते हैं। फिर (मैं) और (मेरा) छोड़कर एक मात्र उनको अर्थात् ब्रह्म को रखने से भी वही फल होता है एवं भक्त ज्ञानीगण इसी पथ का अवलम्बन करते हैं। वस्तुतः 'उनको' छोड़कर 'मैं' रह नहीं सकता एवं 'मैं' को छोड़कर 'वे' नहीं रह सकते। द्वैत के एक को छोड़ सकने से ही सर्व सम्बन्ध रहित, गुणातीत, मायातीत, अद्वैत सच्चिदानन्द स्वरूप वर्तमान रहता है।

७- गुणलीलानुस्मरण रूप-ध्यान

श्रद्धा -भक्ति के साथ निविष्ट चित्त से किसी देव, देवी या महापुरुष की गुण लीलादि पर चर्चा करने से भी ध्यान होता है। अभीष्ट देवता को अनुक्षण स्मरण करते रहने से ही ध्यान होता है। जो जितने काल अविच्छिन्न और गम्भीर भाव से स्मृति के प्रवाह को जारी रख सकता है, उसका उतना ही ध्यान हो जाता है। 'एक सेर न हो, एक पाव ही सही।' जितने दिन प्रकृति की अधीनता है, उतने दिन ध्येय वस्तु को सर्वदा सम्मुख विराजमान दर्शन करना या उनके अविच्छिन्न सान्निध्य का अनुभव करना सम्भव नहीं। नाम की सहायता से इष्टस्मृति यथासाध्य जाग्रत रखने का प्रयत्न आवश्यक है।

८- विचार रूप - ध्यान

विचार ही ध्यान है। यथासम्भव एक निष्ठ चित्त से आत्म विचार करने से ही ध्यान होता है। किसी प्रकार के रूप का ध्यान न करके आत्मानात्म विचार को यथाशक्ति सर्वदा जाग्रत रखकर अनात्म विषयक भावना को चित्त से दूर रखने में एवं आत्म विषयक चिन्तन में सर्वदा अन्तःकरण को नियोजित रखने में ऐकान्तिक प्रयत्नशील रहना भी ध्यान नाम से अभिहित होने योग्य है।

शास्त्र और महापुरुषों के अनुसार विचारशक्ति के प्रयोग द्वारा ही ध्येय निर्धारित होता है। ध्यान द्वारा चित्त निर्मल और विक्षेपरहित होता है एवं ध्येय का साक्षात्कार होता है। किन्तु केवल मात्र ध्यान द्वारा तत्त्वनिर्धारण सम्भव नहीं होता। सब प्रकार के ध्यान ही चरमतत्त्व साक्षात्कार के कारण नहीं हैं। जिस किसी वस्तु को अभीष्टतम् मानकर ध्यान का विषय बनाया जाता है, उसमें ही समाधि हो सकती है एवं समाधि में उस ध्येय का साक्षात्कार प्राप्त हो सकता है। विचार में भ्रान्ति रहने से वही भ्रान्ति ध्यान और समाधि में भी रह सकती है। जिस किसी तत्त्व में समाधि हो जाने से ही मुक्ति नहीं प्राप्त होती। ध्यान का विषय-निर्देश ध्यान द्वारा नहीं होता, विचार द्वारा होता है। विचार द्वारा यदि चरमतत्त्व का परोक्ष ज्ञान प्राप्त करके, उसी के ध्यान में चित्त समाहित किया जाय, तभी ध्यान समाधि में परिणत होकर चरम अपरोक्ष ज्ञान और मुक्ति प्रदान करता है। विचारशक्ति के उत्कर्ष के साथ परोक्ष ज्ञान में क्रमशः परमार्थ की सुस्पष्ट धारणा होती

है, सुतरां ध्येय का भी उत्कर्ष होता है और ध्यान का भी उत्कर्ष होता है। अतएव विचार में जो सत्य अभीष्ट रूप से निर्धारित हो, ध्यान में चित्त को उसी में निविष्ट किया जाता है, सत्य के ध्यान द्वारा निर्मल चित्त में फिर विचार किया जाता है एवं उत्कृष्टतर विचार द्वारा सत्य और अभीष्ट के निगूढ़तर स्वरूप को आविष्कृत करके फिर उसमें चित्त को समाहित किया जाता है। इस प्रकार विचार पर ध्यान और ध्यान पर विचार एवं ध्यानयुक्त विचार और विचारयुक्त ध्यान आवश्यक है। इसमें विचारशक्ति का भी विकास होता है, ध्यान का भी उत्कर्ष होता है एवं चरम लक्ष्य भी क्रमशः निकटतर स्पष्टतर होकर प्रकाशित होता है। विचार और ध्यान दोनों ही गुरु और शास्त्र का अनुगत होकर करने से भ्रान्ति और संशय की सम्भावना कम रहती है। अविचल श्रद्धा और विश्वास के साथ गुरूपदिष्ट नाम-साधन में निष्ठावान होने पर, गुरुशक्तिसमन्वित नाम के प्रभाव से विचार और ध्यान दोनों ही क्रमशः उच्चतर भूमि पर उठते जाते हैं एवं सत्य का प्रकाश और उसमें अनुराग भी क्रमशः पूर्णता को प्राप्त होता है।

मनः संयम

संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रम्
संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ।
संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्पम्
आश्रित्य निश्चयमवाप्नहि राम शान्तिम् ॥
रसस्य मनश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः ।
रसो वद्धो मनो वद्धम् किं न सिद्धयति भूतले ।

योगिराज गम्भीरनाथ जी के चरणोपान्त में उपनीत होकर उनके शिष्यगण अनेक समय निवेदन करते थे कि मन बड़ा चंचल है, काम क्रोध लोभ आदि रिपुगण अत्यन्त प्रबल हैं, यहाँ तक कि जपकाल में भी नाना प्रकार की कुचिन्तायें उदित होकर मन को इतस्ततः विक्षिप्त कर देती हैं और इन्द्रियों को उत्तेजित करती हैं, इनसे अव्याहति प्राप्त करने का क्या उपाय है ? विभिन्न शिष्य विभिन्न भाषाओं में विभिन्न समयों पर यह एक ही प्रश्न योगिराज जी से पूछते थे एवं वे भी शिष्यों की अवस्था समझ कर प्रयोजनानुरूप उपदेश प्रदान करते थे। कुछ शिष्यों के निकट से इस विषय में उनके उपदेशों का जितना संग्रह कर सका, वही उपस्थित किया गया है।

चंचलता मन का धर्म है

किसी-किसी शिष्य से उन्होंने ऐसा कहा था, 'चाञ्चल्य मन का धर्म है।' जब तक मन है तब तक चाञ्चल्य भी है। विशेषतः मन के साथ जब तक विषय का संयोग है, तब तक विक्षेप से अव्याहति मिलना भी असम्भव है। केवल मात्र समाहित चित्त योगियों की ही चाञ्चल्य -निवृत्ति होती है। संसारी लोगों के चित्त में नाना प्रकार की

विषय-चिन्ता और कुचिन्ता अवस्थानुसार आती ही रहती है। जप के समय भी चाञ्चल्य आ जाता है एवं ध्यान के समय भी चित्त वशीभूत और ध्येय विषय में युक्त रहना नहीं चाहता। इसमें कोई अस्वाभाविक बात नहीं है एवं क्षुब्ध होने से कुछ लाभ भी नहीं। जो लोग इस बात पर दुख प्रकट करते हैं कि चित्त स्थिर नहीं होता, उनको विचार करके देखना चाहिए कि दिन-रात के बीच कितना समय वे विक्षेपजनक सांसारिक भोग और कर्म सम्बन्धी चिन्ता और आलोचना करते हैं और उसमें लिप्त रहते हैं एवं कितना समय विक्षेपनिवारक जप ध्यान विचार आदि में अतिवाहित करते हैं। जितना अधिक काल जिस प्रकार के विषय के साथ मन का जितना अधिक संयोग रहता है, उतना ही अधिक मन उन विषयों के राग में रञ्जित हो जाता है, उन विषयों के संस्कार और स्मरण मन पर उतना ही अधिक प्रभाव रखते हैं। इसमें मन का क्या दोष है ? अनुशीलन के अनुसार ही मन का स्वभाव गठित और परिवर्तित होता है। नाना-विध विषयों की चिन्ता और भावना जितनी ही अधिक की जाती है, उतनी ही चाञ्चल्य में वृद्धि होती है और एक तत्त्व का अभ्यास जितना अधिक किया जाता है, उतना ही चाञ्चल्य का ह्रास और स्थिरता की वृद्धि होती है। पहले स्वेच्छापूर्वक नाना प्रकार के कर्म-भोग का आस्वादन और उनमें मन की चञ्चलता का अनुशीलन करके, उसके बाद मन को इच्छा के विरूद्ध दौड़ा-दौड़ी करते देखकर मनुष्य हाय-हाय करता है। यह समझना चाहिए कि यह तो स्वीकृत कार्यों का ही परिणाम है। सुतरां चाञ्चल्य निवारण के लिए यदि वास्तविक आग्रह हो तो गार्हस्थ्य धर्मानुयायी प्रयोजन के अतिरिक्त बाह्य विषय की चिन्ता और आलोचना को यथासम्भव त्याग करने को तथा मन को अधिक समय तक नाम-स्मरण में या तत्त्व चिन्तन में किंवा सदालोचना में नियुक्त रखने का प्रयत्न करना चाहिए। इस बात का पता पाते ही कि किसी प्रकार की कुचिन्ता या वृथा चिन्ता मन में प्रवेश कर गई है, तीव्र इच्छा शक्ति के प्रयोग द्वारा उसे विदूरित करने में तथा सच्चिन्ता द्वारा स्थान को पूर्ण करने में यत्नवान् होना आवश्यक है। विचार जितना ही जाग्रत रहेगा, उतना ही अनभीप्सित चिन्तायें मन में प्रवेश करने का अवकाश कम पायेंगी एवं प्रवेश करने पर भी सहज ही पकड़ी जायेंगी तथा हटा दी जायेगीं। इस प्रकार की साधना के फलस्वरूप मन क्रमशः वशीभूत और सुस्थिर हो जायेगा।

मुक्ति-पथ के कण्टक-समूह विदूरित हों, ज्ञान और प्रेम का स्फुरण हो, उसी प्रकार कर्मानुष्ठान की और उसी प्रकार के जीवन परिचालन की वासना ही सात्विक संकल्प है। सात्विक संकल्प और तदनुरूप कार्यसम्पादन के अनुशीलन द्वारा ही राजसिक और तामसिक संकल्पों का प्रभाव नष्ट होता है, चित्त प्रशान्त, प्रसन्न और प्रकाशशील होता है एवं तत्त्वसाक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होती है। संसार के बहिर्मुख अज्ञजनों की दृष्टि में 'बड़ा' समझा जाने की वासना ही राजसिक संकल्प है। जिस प्रकार के कर्म करने से और जिस प्रकार के जीवन यापन करने से ऐश्वर्यशाली हुआ जाय, आडम्बर के साथ चला फिरा जाय, लोगों पर प्रभुत्व स्थापित किया जाय, साधारण लोग यशकीर्तन करें एवं भय और संभ्रम के साथ व्यवहार करें, उस प्रकार के कर्म और जीवन-परिचालन का संकल्प राजसिक होता है। जिस प्रकार की इच्छा पोषण करने से और जैसी प्रवृत्ति द्वारा क्षुद्रता और हीनता प्रकट होती है, संकीर्ण स्वार्थबुद्धि जीवन का नियामक हो जाती है, इन्द्रिय लालसा, आत्मसुखपिपासा परसुखकातरता, क्रोध, प्रमाद, कपटता, प्रतिहिंसा आदि असत्प्रवृत्तियाँ प्रश्रय पाकर प्रबल होती रहें, आलस्य, जड़ता, पराधीनता, परमुखापेक्षिता आदि वृद्धि को प्राप्त होती जायं एवं ज्ञान भक्ति और प्रेम का प्रकाशन रुद्ध हो जाय, वह तामसिक संकल्प है। तामसिक संकल्प की अपेक्षा राजसिक संकल्प श्रेष्ठतर होता है। जिनके चित्त में तामसिक संकल्प का वेग प्रबल हो, उनको राजसिक संकल्पों का आश्रय लेकर भी उससे अव्याहति प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। तामसिक संकल्प जनित कार्यों में यद्यपि बाहरी आडम्बरों की अल्पता दिखाई देती है तथापि चित्त की चञ्चलता अधिक होती है एवं वह मनुष्य-जीवन के किसी विभाग को विकसित नहीं होने देता, सब विभागों को ही अधोगामी करता है। किन्तु सात्विक संकल्प ही संकल्प-विकल्प के अधीनतापाश के छेदन का प्रधान अस्त्र है। सात्विक संकल्पों के बीच भी विविध विरोधी भावों का तारतम्य रहता है। एक अवस्था में जो खूब सात्विक जान पड़ता है, आध्यात्मिक जीवन में उन्नति प्राप्त होने पर वही फिर राजसिक या तामसिक जान पड़ने लगता है।

विचारास्त्र

साधु संकल्प-वृद्धि और असाधु-संकल्पवर्जन के लिए तीव्र इच्छा-शक्ति का

प्रयोग करके विचार करना होता है एवं साथ-ही-साथ नाम-जप करना होता है। विचार और नाम -जप ही प्रकृष्ट उपाय है। विचार जाग्रत रहने पर असाधु संकल्प चित्त में उदित होते ही पकड़े जायेंगे एवं पकड़ते ही विचार- दृष्टि से उनका दोष-दर्शन पूर्वक सुदृढ़ इच्छा-शक्ति का प्रयोग करके उनका गतिरोध करना आवश्यक होता है। इस प्रतिरोध करने को ही शास्त्र में प्रत्याहार कहा जाता है। आत्मविचार संकल्प-विकल्प को नष्ट करने का प्रधान अस्त्र है। आत्मविचार बिना विषयवासना का मूलोच्छेद नहीं होता, चित्त निर्मल और निरावरण नहीं होता, संशय और विक्षेप नष्ट नहीं होते। चेष्टा रहने पर भी पूर्वार्जित संस्कार वशत: दो एक बुरे संकल्प मस्तिष्क में उठ सकते हैं; किन्तु उससे विषण्ण अवसादग्रस्त नहीं होना चाहिए। बीस अच्छे संकल्पों के बीच यदि दो एक बुरे संकल्प उठें भी तो उसमें कोई विशेष हानि नहीं।

नाम जप ही महौषधि है

योगिराज जी किसी-किसी शिष्य को चित्तचाञ्चल्य के महौषधि के रूप में नाम-जप का ही उपदेश देते थे। वे कहते थे- 'जप करो।' नाम की शक्ति से मन का धर्म बदल जायेगा, चित्त के बुरे संस्कार अपने आप विलुप्त हो जायेंगे। असाधु संकल्प का प्रभाव मिटाने में और साधु संकल्प का तेज बढ़ाने में गुरुदत्त नाम में असाधारण शक्ति है। यथासम्भव अविराम नाम-जप का अभ्यास कर सकने पर, असाधु संकल्प उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं पायेगा, साधुभाव ही स्वभाव बन जायेगा। नाम- साधन द्वारा विचारशक्ति भी तीक्ष्ण हो जाती है एवं विषय का दोष और आत्मा का कल्याणमयत्व विचार में प्रतिभात होने लगता है।

नाम नित्यशुद्ध है

जपते समय में भी कभी-कभी प्राक्तन संस्कार के प्रभाव से व्यर्थ की चिन्ता, कुचिन्ता और मानसिक तथा ऐन्द्रियिक उत्तेजना आदि उत्पन्न हो सकती है। उससे नाम का माहात्म्य बिन्दु मात्र भी नष्ट नहीं होता। नाम नित्यशुद्ध और निष्पाप है। दैहिक और मानसिक अशुचित्व रहने पर भी जप का त्याग नहीं करना चाहिए। नाम छोड़ कर मन यदि नाना दिशाओं में विक्षिप्त रहे, तो भी अपनी इच्छा से जप त्याग देना उचित नहीं,

अपितु ऐसी अवस्था में अधिकतर तीव्रता और दृढ़ता के साथ नाम-जप में प्रयत्नशील होना चाहिए। भगवान् को जिस प्रकार किसी से अशुचि नहीं किया जा सकता, भगवान् के नाम को भी उसी प्रकार किसी वस्तु से अशुचि नहीं किया जा सकता। नाम की शक्ति एवं महिमा भी किसी अवस्था में घटती नहीं। अवस्था भेद से केवल प्रकाश तारतम्य में न्यूनाधिक्य मात्र होता है। नाम सब अशुचि पदार्थों के शुचित्व सम्पादन में समर्थ है। नाम के अचिन्त्य प्रभाव से अलक्षितरूप में देह मन सब शुद्ध हो जाते हैं। नाम की शक्ति से ही क्रमशः मन वश में आ जायेगा, चञ्चलता और कुभाव दूर हो जायेंगे, विचारानुमोदित संकल्प के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के संकल्प द्वारा चित्त विकारग्रस्त नहीं होगा, चारों तरफ मङ्गल ही मङ्गल होगा। प्रारब्धानुसार किसी को शीघ्र फल प्राप्ति होती है और किसी को दीर्घकाल में गौण रूप से। किन्तु समय और साधन-क्रम से सब ठीक हो जाता है।

प्राणायाम

चित्त-विक्षेप-निवारण के उद्देश्य से कोई-कोई शिष्य योगिराज जी से प्राणायाम उपदेश करने की प्रार्थना करते थे। किन्तु वे साधारणतः गृहस्थ शिष्यों को प्राणायाम का उपदेश नहीं देते थे। भिन्न-भिन्न लोगों को विभिन्न प्रकार की बातें कहकर वे मधुर भाषा में प्रत्याख्यान कर देते थे। बहुतों से वे कहते थे, "कुछ जरूरत नहीं, नाम से ही मन स्थिर हो जायेगा।" किसी-किसी शिष्य से कहते थे, "गृहस्थ के लिये प्राणायाम अच्छा नहीं।" किसी से कहते थे, "आसन लगा के जप करो, अपने आप प्राणायाम की क्रिया होने लगेगी।" फिर किसी से कहते थे, "प्राणायाम अभी नहीं, इट्रेंस, तब एफ०ए० तब बी०ए०।" अन्य किसी शिष्य से स्पष्टभाषा में कह देते थे कि जब तक इस नियम के अभ्यास द्वारा शरीर और मन के पाप नष्ट नहीं जाते, तब तक प्राणायाम की चेष्टा करने से प्राणायाम भी ठीक नहीं होता एवं उपकार के बदले अनेक प्रकार के अपकार की सम्भावना भी रहती है।

हठयोग

हठयोग के सम्बन्ध में पूछने पर वे कहते थे कि केवल हठयोग तो कसरत मात्र

है। राजयोग की सहायता करने में ही हठयोग की सार्थकता है। हठयोग द्वारा कितनी ही शक्तियाँ और विभूतियाँ प्राप्त की जा सकती हैं सही, किन्तु उनसे जीवन की कृतार्थता नहीं होती, मोक्ष -प्राप्ति नहीं होती। तथापि, राजयोग में अधिकार प्राप्त करने के लिये एवं राजयोग में सहज ही सिद्धि प्राप्त करने के लिये, हठयोग से बड़ी सहायता मिलती है। हठयोग में एक ऐसी गुह्य साधन-पद्धति है जिसका नियमित रूप से अभ्यास कर सकने पर अति सहज ही राजयोग की अन्तरङ्ग साधना में पहुँचना सम्भव हो जाता है एवं अन्तःकरण अति सहज ही तत्त्वसाक्षात्कार के योग्य हो जाता है। उत्तम योगाधिकारीगण गुरुकृपा से उस गुह्य साधन-रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु वैसे अधिकारी और वैसे देहमनसम्पन्न साधक बहुत ही विरल होते हैं। सुतरां हठयोग साधारण मनुष्य के लिये मोक्ष-लाभ के अनुकूल नहीं होता। किन्तु हठयोग के बिना राजयोग में प्रवेशाधिकार नहीं, यह समझना भूल है। साधक मात्र ही राजयोग का अधिकारी है। जो साधक सद्गुरु के उपदेशानुसार जिस प्रकार की साधन-पद्धति अवलम्बन करके सहज और स्वााभाविक भाव में परम पुरुषार्थ प्राप्त कर सके, उसके लिये वही राजयोग है। योगिराज जी और भी कहते थे कि विचार और भजन अच्छा साधन है, विचार के बिना योग दुःख ही देता है। ज्ञानमूलक विचार और भक्तिमूलक भजन मिलित होने पर ही जीवन को सर्वाङ्गसुन्दर बना देते हैं और परमार्थ-प्राप्ति का अधिकारी बना देते हैं।

कर्मानुष्ठान

योगिराज जी किसी-किसी शिष्य को चित्त-विक्षेप के प्रतिकार के लिये कर्मानुष्ठान करने का भी उपदेश देते थे। आसनस्थ होकर अधिक समय तक जपध्यानादि में अभिनिविष्ट रहने की चेष्टा करने से किसी-किसी का चित्त अधिक विक्षिप्त हो जाता है। बहुतों का संस्कार ही ऐसा होता है एवं प्राचीन कर्मवश देह, मन इस प्रकार गठित होते हैं कि अधिक समय तक इन्द्रियों को बाह्य विषयों के संपर्क से पूर्णतया विच्छिन्न रखना और मन को किसी एक सूक्ष्म विषय में संलग्न रखना उनके लिये स्वभावविरोधी जान पड़ने से असम्भव होता है। स्वभाव के प्रतिकूल हठात् बैठे रहने से चित्त एकाग्र तो होता ही नहीं, अपितु दौड़-धूप ही अधिक करता है अनेक समय तो ऐसा देखा जाता है कि साधारण कर्मनिरत अवस्था की अपेक्षा ध्यान, जपादि के अनुशीलन-काल में

ही उनके इन्द्रिह और मन का विक्षोभ तथा अवान्तर विषय की ही चिन्ता-भावना अधिक मात्रा में होती है। ऐसे क्षेत्र में स्वभाव के ऊपर अस्वाभाविक बल-प्रयोग करके मन और इन्द्रियों का निरोध करने से मस्तिष्क विकृति भी असम्भव नहीं होती। स्वभाव की सम्पूर्ण रूप से उपेक्षा करके चलने की कल्पना विपरीत फल का प्रसव करती है। स्वभावानुकूल पथ पर अग्रसर होना ही विचार संगत और कल्याण प्रद होता है। सुतरां ऐसे स्वभाव वाले व्यक्ति ऐकान्तिक धर्मपिपासु होने पर भी, यदि अधिक समय तक जपध्यानादि में निरत रहने का निष्फल प्रयत्न न करके विचार पूर्वक अपने और दूसरों के हितकर बाह्यकर्मानुष्ठान में मन और इन्द्रियों को अभिनिविष्ट रखने का प्रयत्न करें, तो उनके कल्याण का मार्ग सरल और सुगम हो जायेगा।

स्थूल कर्म और सूक्ष्म कर्म

मन को कभी बेकार नहीं रखना चाहिये। बेकार रहने से ही वह अनर्थ की सृष्टि करता है । मन जितने समय सजग रहता है, उतने समय ही उसको किसी सद्विषय में व्यापृत रखना चाहिये । वह विषय स्थूल भी हो सकता है, सूक्ष्म भी हो सकता है। जप, ध्यान, तत्त्व विचार आदि सूक्ष्म कर्म हैं, इसमें मन की शतमुखी प्रवृत्तियों को निरुद्ध रखना पड़ता है, देह और इन्द्रिय समूह को स्थिर रखना पड़ता है और मन को बहुत काल तक एक तत्त्व के चिन्तन में नियुक्त रखना पड़ता है। पारिवारिक नित्य नैमित्तक कर्म, जीविकार्जनार्थ कर्म, देश और समाज की सेवा, रोगी और दुखियों की शुश्रूषा, ग्रन्थपाठ,- ये सभी शुभानुष्ठान स्थूल कर्म हैं। इन कार्यो को भी विचार पूर्वक, धैर्य और स्थैर्य के साथ करने से मन विचाराधीन और स्थिर हो जाता है। जब तक अनुकूल सदनुष्ठान के द्वारा प्रवृत्तियाँ पर्याप्त मात्रा में वशीभूत नहीं होतीं, तब तक जपध्यानादिरूप सूक्ष्म कर्मों में मन को अधिक समय तक स्थिर नहीं रक्खा जा सकता। सुतरां जितनी देर तक देहेन्द्रिय और मन का उपयुक्त रूप प्रशान्तभाव बना रहे, उतनी देर तक आसनस्थ होकर जप, ध्यान विचारादि करना उचित है तथा अन्य समय यथा विधि स्थूल कर्तव्य कर्मो का प्रसन्न चित्त से सम्पादन करना चाहिए;- यही साधारणत: साधकों के लिये उत्तम नियम है। वे सव कर्त्तव्य कर्म भी यदि विचार पूर्वक फलाकांक्षा त्यागकर भगवत्सेवा बुद्धि से सम्पन्न किये जाँय, तो वे ही जप, ध्यानादि के समान अध्यात्म साधना में परिणत हो जायेंगे।

कर्म साधन में विघ्न रूप नहीं है, कर्मानुष्ठान का कौशल न जानने से ही विक्षेप बन्धन और नाना प्रकार के विघ्नों की सृष्टि होती है।

षड् रिपु-दमन

काम क्रोधादि शत्रुओं को वशीभूत करने के उपाय के सम्बन्ध में योगिराजी जो उपदेश प्रदान करते थे, उसका तात्पर्य इस प्रकार है। ये सब धीरे-धीरे वश में आते हैं, साधन-प्रभाव से काल क्रम में इनके आक्रमण से अव्याहति मिलती है। त्यागियों के भी ये षड् रिपु एक वारगी वशीभूत या विनष्ट नहीं होते। किसी के कम होते हैं, किसी के अधिक। केवल मात्र नित्यनिरन्तर समाधिनिरत योगियों के ही षड् रिपु निरस्त होते हैं। विचार द्वारा तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर एवं ध्यान समाधि द्वारा ज्ञान का परिपाक होने पर कामादि प्रशान्त भाव धारण कर लेते हैं। कामादि के आक्रमण से निस्तार मिला नहीं, यह सोचकर घबड़ाना या हताश होना उचित नहीं। वस्तुतः कामादि रिपु नहीं हैं, वे स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ हैं। वे हैं जीव के कल्याण के लिये ही। ये यदि न रहते तो सृष्टि न चलती और जीव के शक्तियों का विकास भी न हो सकता। यह केवल मनुष्य का ही अनन्य साधारण अधिकार है कि वह इनको विचाराधीन रख कर नियन्त्रित करे। विचार-शक्ति जब दुर्बल होकर इनको धर्मानुमोदित मार्ग पर परिचालित करने में असमर्थ हो जाती है; तभी मनुष्य के लिये ये शत्रु बन जाते हैं। कामादि जब मनुष्यों के परिचालक होते हैं, तभी वे शत्रु होते हैं एवं जब विवेक के परिचालनाधीन रहते हैं, तब मानव-जीवन का उत्कर्ष करने में सहायक होते हैं। स्वयं वीर्यवान् विचारशील और स्वाधीन रहकर अपने अभीष्ट सिद्धि के अनुकूल मार्ग पर उनको नियोजित करने से वे अकृत्रिम मित्र के समान मनुष्यों की सेवा करते हैं, स्वयं दुर्बल विचारहीन तथा आत्मलोपी होकर उनकी वश्यता स्वीकार कर लेने पर वे भीषण शत्रु बनकर इहलोक और परलोक दोनों नष्ट कर देते हैं। सुतरां उन्हें प्रबल शत्रु समझकर सर्वदा उनके भय से भीत न होकर अपने को उनका स्वाभाविक प्रभु समझना उचित है एवं अपनी विचारशक्ति और इच्छाशक्ति के प्रभाव से उन पर आधिपत्य करते हुए नित्यनिरन्तर उन्नत चिन्ता सदालोचना और शुभ कर्मानुष्ठान में देहेन्द्रियमन को नियोजित रखने का तथा मोक्षानुकूल वृत्तियों के अनुशीलन का प्रयत्न करना चाहिये। कभी भी अपने को दुर्बल और रिपुओं को प्रबल समझना उचित

नहीं। अपने को दुर्बल समझने पर दुर्बल शत्रु भी प्रबल रूप में दिखाई पड़ने लगता है। अपने को महाशक्ति सम्पन्न समझ कर तेज और साहस के साथ खड़े होने पर प्रबल शत्रु भी मस्तक नत कर लेते हैं।

१. काम

चित्त में काम का उद्रेक होने पर विचारास्त्र द्वारा उस पर आघात करके संयम-रज्जु द्वारा उसे बाँध रखने का प्रयत्न करना चाहिये। इस ओर दृष्टि रखना चाहिये कि वे कार्य-रूप में प्रकाशित न होने पावें। जितनी ही बार उनका सन्तोष किया जायेगा या उनकी वश्यता स्वीकार की जायेगी, उतनी ही बार उनको प्रबलतर बनाना होगा एवं जितनी ही बार आक्रमण होने पर उनको देहेन्द्रिय मन के भीतर से आत्मप्रकाश करने में बाधा दी जायेगी, उतनी ही बार उनकी शत्रुता साधनशक्ति क्षुण्ण और मित्रभाव परिस्फुट होगा। विचार सर्वदा जागरूक रहने पर वे और विद्रोही होने का साहस नहीं करेंगे। जैसे संसर्ग और पारिपार्श्विक अवस्था के अन्दर से काम वृत्ति की उत्तेजना, पोषण और शक्तिसंचय होने की संभावना हो, वैसे संसर्ग और अवस्था यथासंभव परित्याग करके चलना आवश्यक है। परिपोषक संसर्ग, चिन्ता आलोचना की सहायता से अनजान में ही क्रमश: बलवान होते-होते कामवृत्ति कालक्रम से प्रबल और अदम्य महारिपु बनकर प्रकट होते हैं तथा देहेन्द्रिय को जर्जरित कर देते हैं। स्त्री पुरुषों का सम्बन्ध लेकर अधिक चिन्तन या आलोचना भी संगत नहीं होते। कितने ही निर्मलचरित्र बालक-बालिकायें युवक युवतियों के काम-सम्बद्ध विषयक सरस ग्रन्थों का पाठ करते और तद्विषयक आलोचना में भाग लेते-लेते अनजान में ही अपने अन्दर काम-रिपु को उद्बुद्ध और शक्तिशाली बना देते हैं।

दाम्पत्य जीवन

जो विवाहित हों, उनके दाम्पत्य जीवन में पति-पत्नी के परस्पर वैधसम्बन्ध में अवश्य ही पाप नहीं होता। किन्तु उस क्षेत्र में भी असंयत व्यवहार स्वामी और स्त्री दोनों के लिये ही अकल्याणकर होता है। दाम्पत्य जीवनमें स्वामी और स्त्री के बीच काम-सम्बन्ध को प्रधान समझना भयानक दुर्नीति का निदर्शन है। गार्हस्थ्य धर्म और पति-पत्नी का सम्बन्ध धर्म के ऊपर प्रतिष्ठित है और अति पवित्र है। ऋषिमुनिगण भी स्त्री,

पुत्र के साथ तपोवन में वास करते थे और धर्म का जीवन यापन करते हुये परम पुरुषार्थ के मार्ग पर अग्रसर होते थे। गार्हस्थ्य उनके मुक्ति-मार्ग को रुद्ध नहीं करता था। वे धर्म के लिये ही संसार करते थे एवं संसार में रहकर सांसारिक कर्त्तव्यपालन करके भी तपस्यया करते थे। गार्हस्थ्य भोगविलास के लिये नहीं, अपितु धर्म के लिये तथा जगत् में धर्म-प्रतिष्ठा के लिये है। धर्मनिष्ठ पति और पत्नी परस्पर धर्मसाधन के सहायक होकर धर्मनीति के अनुसार कामसेवा द्वारा धार्मिक पुत्र, कन्या उत्पन्न करके समाज का कल्याण करते थे। यह भी एक विशेष दायित्वपूर्ण धर्म संगत कार्य है।

२. क्रोध

मन में क्रोध उदय होते ही विचार के अंकुशाघात से उसको भगा देना चाहिये, वाक्य में या कार्य में उसको प्रकट होने देना उचित नहीं। मनके भीतर क्रोध का पोषण करना नितान्त अनिष्टकारी होता है। क्रोध से सब प्रकार के अनिष्टों की उत्पत्ति होती है। क्रोध से उसके लक्ष्य का ही अनिष्ट नहीं होता, अपितु जहाँ उदय होता है, उसका ही अनिष्ट अधिक करता है। क्रोध तेजका लक्षण नहीं है बल्कि दुर्बलता का ही लक्षण है। तेज कल्याणप्रद होता है, क्रोध सर्वनाशकारी होता है। क्षमा यथार्थ तेज का परिचायक है। क्षमा द्वारा क्रोध का जय किया जाता है। यदि किसी के ऊपर शासन करने की अथवा किसी के विरुद्ध तेज प्रकाश करने की आवश्यकता हो, तो पहले अपने अन्तर में संचारित क्रोध की उत्तेजना को प्रशमित करके तब कर्त्तव्य बोध से तेज का प्रदर्शन करना ही मनुष्योचित यथार्थ कार्य होगा। क्रोधान्ध व्यक्ति स्वयं अपना ही परिचालन या शासन नहीं कर सकता, तो दूसरे का परिचालन या शासन क्या करेगा ? तब तो वह रिपुओं का दास हो जाता है और आत्मविस्मृत होकर रिपुशक्ति द्वारा ही परिचालित होता है। ऐसी अवस्था में उपयुक्त तेज का प्रकाश भी संभव नहीं। उसमें और हिंस्र जन्तुओं में कोई भेद नहीं रह जाता। काम और क्रोध प्रबल होकर मनुष्यत्व को पशुत्व में परिणत कर देते हैं।

शत्रु सम्बन्ध में व्यवहार

किसी को यदि शत्रु मान लिया गया हो तो उससे जितनी ही दूर रहा जाय और

उसकी चर्चा जितनी ही कम की जाय, उतना ही मंगल होता है। क्योंकि शत्रु के साथ भेंट होने पर, किंवा उसके सम्बन्ध में आलोचना होने पर अथवा उसके चरित्र की आलोचना होने पर अथवा उसके चरित्र और तत्कृत अपकार की बातों का स्मरण करने से अन्तःकरण में क्रोधरूपी महाशत्रु जाग्रत और उत्तेजित होकर नाना प्रकार की विश्वृखलता उत्पन्न कर सकता है। साधकों के लिये बाहरी शत्रुगण अपने कार्यों द्वारा जितना अनिष्ट कर सकते हैं उससे कहीं अधिक अनिष्ट होता है- मन में क्रोध और जिघाँसावृत्ति की उत्तेजना उत्पन्न होने से। शत्रु के विरुद्ध शत्रुता का आचरण करने से क्रोध रूपी महाशत्रु की अधीनता -श्रृङ्खला में आवद्ध हो जाना अपना अभीष्ट तो हो ही नहीं सकता। दुष्कर्मियों के भी दोषों का स्मरण और आलोचना न करके उनके सद्गुणों का अनुसन्धान, आलोचना और स्मरण करना कल्याणकारी होता है। इससे उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जिसके भीतर कोई श्रद्धा करने लायक गुण खोजने से न मिल सके। गुण देखने पर श्रद्धा उत्पन्न होने से क्रोध, घृणा और जिघाँसा प्रवृत्तियों का उपशम होता है। शत्रु के प्रति जब क्रोध और वैरभाव नष्ट होकर श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न होता है, तब शत्रु की भी अनिष्ट करने की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है एवं अन्तःकरण में श्रद्धा और मैत्री उत्पन्न होती है।

३. लोभ

लोभ के विषमय परिणाम का विचार करके लोभ के दमन में प्रयत्नशील होना चाहिये। लोभी व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता। जो जितना ही लोभ के वशीभूत होकर भोग में प्रवृत्त होता है, उसका लोभ भी उतना ही प्रबल होता जाता है, विचार-शक्ति उतनी ही क्षीण होती जाती है एवं अभाव-बोधजनित यन्त्रणा भी उतनी ही मर्मघातिनी हो जाती है। लोभ से क्रोध, मोह आदि अन्य रिपुगण भी प्रादुर्भूत होते हैं। रसना का संयम होने से अन्यान्य इन्द्रियों का संयम भी सहज हो जाता है। किसी वस्तु के प्रति लोभ उत्पन्न होते ही विचार और इच्छाशक्ति के प्रयोग द्वारा लोभ चरितार्थता की चेष्टा को रोकना चाहिये एवं लोभनीय वस्तु यदि सामने हो तो उसे दूर हटा देना किंवा स्वयं ही उस से दूर हटकर किसी उत्तम विषय के विचार में अथवा किसी कल्याणकर कर्म के अनुष्ठान में मन लगाकर हृदय से उस वस्तु की स्मृति को नष्ट कर देना चाहिये।

भोग्यवस्तु के दोष, गुणों का विचार करके शरीर पोषणोपयोगी और चित्तोत्कर्ष के अनुकूल द्रव्य का उपार्जन और भोग संगत होगा। जो शरीर और मनके लिये अनिष्टकर हो, उसका लोभनीय होने पर भी वर्जन करना चाहिये। अपने पास जो कुछ हो तथा अपनी शक्ति के धर्मसंगत प्रयोग द्वारा जो कुछ उपार्जन किया जाय, उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिये। दूसरे के धन पर लोभ करना भी उचित नहीं, उससे तो भीतर जलन ही उत्पन्न होती है। याद रखना चाहिये कि जिसे जो कुछ मिला है वह उसे अपने पूर्वतन कर्म के फलस्वरूप मिला है। भोगकाल में भी विचार जाग्रत रखना चाहिये। भोग जब विचार विहीन होता है तब लोभ प्रबल हो जाता है एवं उसे दमन करने की शक्ति का ह्रास भी होता है।

४. मोह

जो जिसका स्वरूप और धर्म नहीं है, उसी को अपना स्वरूप और धर्म समझने का भ्रम ही मोह कहलाता है। सत् को असत् समझ कर परित्याग करना और असत् को सत् समझ कर ग्रहण करना, शुचि को अशुचि ज्ञान कर उससे दूर रहना और अशुचि को शुचि जान कर उसका संग करना, जो वस्तुत: सुखप्रद है, उसे दु:खप्रद समझकर त्याग देना,- इस प्रकार का विचारविभ्रम और विपर्यय बुद्धि ही मोह है। देह को आत्मा, देह के साथ सम्बन्ध रखने वाले लोगों को आत्मीय और देह के स्वार्थ को अपना स्वार्थ समझना, एवं आत्मा को देह के मध्य अवस्थित सूक्ष्म पदार्थ विशेष और जिनके साथ दैहिक सम्बन्द्ध नहीं है, उनको ही अनात्मीय समझना आदि मोह के ही लक्षण हैं। जो लोग देश की, समाज की और विश्व की सेवा में दैहिक सुख स्वाछन्द्य का विसर्जन कर देते हैं और पुत्र, कलत्रादि के भोग-विलास के सम्बन्ध में उदासीन हो जाते हैं, उन्हें स्वार्थत्यागी और परार्थनिष्ठ कहकर जो उनकी प्रशंसा की जाती है, उसके मूल में भी यही मोह रहता है। तत्वत: वे ही अपने यथार्थ कल्याण को प्राप्त करते हैं और वे ही विचार दृष्टि से स्वार्थनिष्ठ हैं। विचार-शक्ति का अनुशीलन और कार्य-क्षेत्र में विचार का अनुवर्तन ही मोह-नाश का एकमात्र उपाय है। विचारशक्ति का जितना ही विकास होगा, उतना ही अन्त:करण निर्मल, स्थिर और निरावरण होगा, उतना ही सत्य शिव सुन्दर का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित और मोह तिरोहित होगा। शास्त्र और महापुरुषों का अनुसरण करते हुये, इस प्रकार विचार करते-करते कि मायिक ज्ञान अज्ञानता है, इस

जगत में सुख दु:ख आदि सभी अनित्य और मिथ्या हैं, एक नित्य शुद्ध स्वप्रकाशआनन्दमय परमात्मा ही परम सत्य है, उनकी साक्षात् उपलब्धि ही सम्यक ज्ञान और जीने का चरम लक्ष्य है, इसी का स्मरण करते-करते ही अन्त:करण मोहनिर्मुक्त हो जाता है। सदाचार-पालन मोहनाश का सहायक है।

५. मद

योगिराज गम्भीरनाथजी शिष्यों से प्राय: कहा करते थे कि "मैं नहीं रखना।" अभिमान त्यागने का सब प्रकार से प्रयत्न करना चाहिये। अपने को किसी की अपेक्षा बड़ा अथवा किसी की अपेक्षा छोटा मानना उचित नहीं। विचार से देख सकोगे कि तुम जिन की अपेक्षा अपने को बड़ा मानकर गर्व का अनुभव करते हो अथवा जो लोग तुम्हें अपनी अपेक्षा उच्चासन प्रदान करते हैं, उनमें से प्रत्येक के जीवन में ऐसे कोई गुण या शक्ति विकसित होती है, जो तुम्हारे जीवन में उस मात्रा में नहीं होते। सुतरां विचार-दृष्टि से देखने पर दूसरे की तुलना में अपने को उन्नततर समझना और गर्व करना अथवा किसी को छोटा समझकर अवज्ञा की दृष्टि से देखना कभी उचित नहीं हो सकता। और भी सूक्ष्मतर विचार करने पर यह बोध होगा कि सभी भगवान् के मन्दिर हैं, तुम्हारे आराध्य भगवान् सबके ही अन्तर में अन्तर्यामी रूप से विराजमान रहते हैं, तुम छोटा समझोगे किसको ? किसी देह में उनकी भगवत्ता का प्रकाश अधिक होता है, किसी में कम और किसी देह में उनकी शक्ति तथा ऐश्वर्य आसुरी भाव की आवर्जना में पूर्णतया छिपी रहती है। किन्तु प्रकाश के तारतम्य अथवा वैचित्र्य से उनकी भगवत्ता का तो कोई ह्रास बृद्धि नहीं होता, हम जो सब मन्दिरों में सभी अवस्थाओं में समान भाव से उनकी उपलब्धि नहीं कर पाते, तो वह हमारा ही अपराध है। वे तो परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन स्वरूप में ही घट-घट में विराजमान हैं। ऐसे विचार से सर्वत्र भगवद्दर्शन का अभ्यास करने से अभिमान का कोई अवसर नहीं रहता है, अपितु सभी के प्रति श्रद्धा और सहृदयता का भाव उत्पन्न होता है। मानव-जीवन के अत्युच्च आदर्श का स्मरण बना रहने पर ही किसी को वर्तमान अवस्था का गर्व नहीं हो सकता। जिस लक्ष्य पर पहुँचने से तुम अपने जीवन को सार्थक समझ सकोगे, उसके साथ तुलना करने पर तुम्हारी वर्तमान अवस्था में अभिमान करने का क्या कोई कारण हो सकता है ? अपने धर्मभाव और सत्य कार्य

को यथासंभव गुप्त रखना चाहिये और प्रशंसा के स्थल से भी यथासंभव दूर रहना चाहिये। दूसरों से प्रशंसा और सम्मान पाते-पाते प्रायः मनुष्य सचमुच ही अपने को बड़ा समझने लगता है। किन्तु सर्वदा स्मरण रक्खो कि जीवन में धर्म-कर्म से जितना बड़ा होने का अधिकार लेकर तुम जन्म ग्रहण किये हो, उसकी तुलना में तुम अत्यन्त छोटे हो एवं इसी कारण तुम्हें गर्वित होने के लिये कुछ भी नहीं है। ऐकान्तिक आग्रह के साथ उसी दिशा में अग्रसर होते जाओ।

६. मात्सर्य

जिनके चित्त में मात्सर्यवृत्ति प्रवल होती है, उनके समान दुःखी संसार में और कोई नहीं होता एवं उन लोगों का दुःख कभी निवृत्त नहीं होता। दूसरों का सुख देख कर जो कातर हो जाते हैं, उनकी कातरता मिटेगी कैसे ? दूसरे की हानि करके, दूसरे को छोटा बना कर, जो अपना लाभ करना और स्वयं बड़ा होना चाहता है, वे चिरकाल तक छोटे रहते हैंऔर चिरकाल तक अपने को क्षतिग्रस्त समझते रहते हैं। वे जिस ओर दृष्टिपात् करते हैं, उसी ओर दूसरों की सुख-सम्पत्ति देख कर निरर्थक यन्त्रणा अनुभव करते हैं। उनका चित्त कभी प्रसन्न नहीं रहता, हृदय की संकीर्णता और मलिनता कभी नष्ट नहीं होती। साधन-भजन में भी उनकी रति नहीं होती, भगवान कभी उनके हृदय में प्रकाशित नहीं होने पाते। सुतरां सब प्रकार का प्रयत्न करके मात्सर्य से अपनी रक्षा करनी चाहिये। विचार करने पर समझ सकोगे कि जैसे तुम्हारा अनिष्ट करके या तुम्हारा धन छीन कर कोई बड़ा नहीं हुआ है, वैसे ही तुम भी किसी का नुकसान करके या किसी को छोटा करके बड़ा नहीं हो सकोगे, सुखी नहीं हो सकोगे। सब लोग ही अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोग करते हैं, जो दूसरों के दुःख में दुःखी और दूसरों के सुख में सुखी होते हैं, संसार में वे ही सबसे अधिक सुखी होते हैं। केवल मैत्री और सहानुभुति का अनुशीलन करके मनुष्य अपने हृदय में जितना सुख अनुभव करता है, उतना सुख प्रचुर भोग और सम्पत्ति का अधिकारी होकर भी कोई नहीं पाता। मात्सर्य जिस प्रकार मनुष्य के हृदय को संकुचित और दैन्ययुक्त बनाता है, उसी प्रकार मैत्री हृदय को सुप्रसारित और प्रसन्न बनाती है। मैत्री के अभ्यास द्वारा मनुष्यत्व का विकास होता है तथा अन्तःकरण विशुद्ध और भगवत्स्वरूपानुभूति के योग्य हो जाता है। प्रेम के साथ सेवा

करना मात्सर्यनाश का प्रकृष्ट उपाय है। सबके भीतर भगवान् नित्य विराजमान रहते हैं एवं प्रत्येक की सेवा द्वारा भगवान् की सेवा होती है, इस प्रकार विचार करके अनुराग के साथ यथासाध्य लोगों की सेवा में लगे रहने से मात्सर्य-रिपु निरस्त हो जाता है, मैत्री की प्रतिष्ठा होती है, हर एक की उन्नति में आनन्द संभोग होता है और सर्वत्र भगवदनुभूति की योग्यता प्राप्त होती है।

नाम और विचार ही सब रिपुओं के नाश का महास्त्र है

नाम साधन और विचार के अनुशीलन द्वारा चित्त जितना ही विशुद्ध होगा उतना ही असद्वृत्तियों का प्रभाव नष्ट होता है और ससद्वृत्तियों का अभ्युदय होता है। नाम और विचार सब रिपुओं के लिये महास्त्र हैं। नाम और विचार शक्ति के सम्मुख सब रिपु ही दुर्बल पड़ जाते हैं, क्योंकि रिपुओं की शक्ति मिथ्या पर स्थित है एवं नाम और विचार की शक्ति सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित है। मिथ्या का बाहरी आडम्बर कितना ही हो, वह सत्य के निकट आत्मसर्मपण करने को बाध्य होगा। यह सोचकर कि रिपुओं का आक्रमण अभी भी कम नहीं हुआ, अस्थिर अथवा हताश होना निर्बुद्धिता का परिचायक है क्योंकि उससे तो रिपुओं को प्रश्रय ही मिलता है। साधन-जीवन में नैराश्य ही परमशत्रु है। कभी भी निराश या अवसन्न मत हो, किंवा अपने को दुर्बल मत मानो। नाम और विचार को साथ लेकर सर्वदा वीर के समान सजग रहो, रिपु-गण अपने आप वश में आ जायेंगे। "कुछ डर नहीं है।"

❋

षष्ठोपदेश

भक्तियोग और निष्काम कर्म

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह ।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ॥
करोति यद्यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत् तत् ॥

शिष्यों का कातर निवेदन

योगिराज गंभीरनाथ जी के शिष्यगण कभी-कभी श्रीगुरुचरणों के निकट ऐसा निवेदन करते थे कि पुराणादि ग्रन्थों में हम लोग देखते हैं कि पहले के युगों में ऋषि, मुनि, तपस्विगण संसारक्लेशनिवृत्ति और मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से कितने प्रकार के कष्टसाध्य योगयज्ञ तपस्यादि का अनुष्ठान करते थे। पारिवारिक और सामाजिक सब प्रकार के बन्धनों को छिन्न करके और सब विघ्नविपत्तियों को पददलित करके किस प्रकार अनुराग और कठोर वैराग्य के साथ मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर होते थे, हिंस्र जन्तुसमाकीर्ण गंभीर अरण्य में, पर्वत और गुफाओं में निःसंग और निष्किंचन होकर, आहार निद्रा त्याग करके ऊपर पैर नीचे शिर करके सैकड़ों वर्षों तक किस प्रकार ऐकान्तिक साधन में निमग्न रहते थे, उन लोगों का ज्ञानबल, तपोबल और योगबल कितना अपरिसीम होता था, उनका परमायु कितना दीर्घ होता था, इन बातों का विचार करके उनकी तुलना में अपने ऊपर दृष्टि डालने से हमें तो अपने लिये कोई आशा-भरोसा दिखाई नहीं देता। हमें ज्ञान नहीं, वैराग्य नहीं, शक्ति नहीं, एकमात्र गुरुब्रह्म की अहैतुकी कृपा को छोड़कर कोई दूसरा बल ही नहीं। हम लोग संसारी जीव हैं, सांसारिक काम - काज में ही फँसे रहते हैं,कुछ अवसर मिला तो केवल थोड़ा सा नाम-जप भर कर लेते हैं। यह भी नहीं कह सकते कि परमार्थ -प्राप्ति के लिये हृदय में ऐकान्तिक आग्रह है। क्या हमारे समान अभागे दुर्बल जीवों के लिये भी कोई मोक्ष-प्राप्ति की सम्भावना है ? क्या हमारे इस संसारतापक्लिष्ट शक्तिहीन जीवन में शान्ति प्राप्त करने का कोई उपाय है ? क्या हमारे

जैसे समान अवस्था में रह कर भी मानव-जीवन कभी सार्थक्य मण्डित हो सकता है? इस प्रकार नाना रूपों में शिष्यगण गुरुदेव के निकट अपने हृदय की दीनता प्रकाशित करते थे एवं गुरुदेव से करूणा और उपदेश की याचना करते थे।

करूणाघनमूर्ति गुरुदेव ऐसे कातर वचन के प्रत्युत्तर में अपने 'दीर्घायतारूणमृदुस्मित शोभा' नेत्रद्वय को अतिमात्रा में द्रवीभूत करके शरणागत शिष्यों के संसार तापक्लिष्ट मुखमण्डल के ऊपर शान्तिसुधावर्षिणी स्निग्धदृष्टि डालकर इस प्रकार थोड़े से आश्वासन, उत्साह और अभय के वचन उच्चारण करते थे कि, उनका भय और नैराश्य एक क्षण में लुप्त हो जाता था तथा प्राणों में आशा और आनन्द भर जाता था। साथ-ही-साथ वे वर्तमान युग का युगधर्म और गृहस्थ साधकों के लिये विशेष उपयोगी भक्तियोग और निष्काम कर्म का उपदेश देते हुये उनकी जीवन-धारा को सर्वाङ्गीण कल्याण के अभिमुख प्रवाहित करने के सरल और सुनिश्चित मार्ग का निर्देश कर देते थे। इस सम्बन्ध में उनके उपदेशों का सारमर्म जितना संग्रह और अवधारण कर सका हूँ, उसी का वर्णन करता हूँ।

युगानुकूल साधन (कलि में भक्ति योग)

यह कलिकाल है। (प्राचीनकाल के युगों के) ऋषिमुनितपस्वियों के समान आधुनिक साधकों में वैसी शक्ति नहीं, उतना समय नहीं, वैसा सुयोग नहीं। इस समय वैसी योगत्यागतपस्या सम्भव नहीं। देशकाल तथा मनुष्य के संस्कार और सामर्थ्य कुछ भी वैसे कठोर साधन के अनुकूल नहीं। परन्तु इसीलिये यह मान लेना भूल होगी कि वर्तमान युग के साधकों के लिये मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। कृच्छ साधन तथा शक्ति, समय और सुयोग की कमी के कारण निराश होना उचित नहीं। देशकाल और अवस्था के अनुसार एवं साधक की प्रकृति और शक्ति के अनुसार ही साधन का विधान होता है। यह धारणा बिल्कुल ही भ्रान्त है कि खूब कठोर साधन करने पर ही भगवान् सन्तुष्ट होते हैं और मुक्ति प्रदान करते हैं, अन्यथा नहीं। जिसके पास जितनी शक्ति, समय और सुविधा हो उसी को यदि ऐकान्तिकता के साथ भगवदाराधना में लगाया जाय, तो भगवान् की करुणा का अनुभव निश्चय ही होगा और उनके प्रकाश की उपलब्धि होगी। सत्य

और त्रेता युगों की साधना जैसी थी, कलिकाल की साधना का वैसी ही होना सम्भव नहीं, आवश्यक भी नहीं, सिद्धिप्रद भी नहीं और कलियुग की भी साधना उसी प्रकार सत्य और त्रेतायुगों में न सम्भव ही थी, न सिद्धिप्रद ही। संन्यासी की साधना जैसी होनी आवश्यक है, वैसी ही गृहस्थ की साधना का होना आवश्यक नहीं। गृहस्थ को जिस जिस प्रकार की साधना से जैसी सिद्धि प्राप्त होती है संन्यासी को उसी प्रकार की साधना से वैसी सिद्धि नहीं प्राप्त होती। अधिकार भेद से व्यवस्था भिन्न-भिन्न होती है, कर्म और कर्मफल भिन्न-भिन्न होते हैं। वर्तमान युग में साधारण मानव का देह, मन जिस प्रकार गठित है, उनकी जैसी प्रकृति और जैसी शक्ति है एवं देश-काल की जैसी अवस्था है, उसमें भक्ति योग ही उत्तम साधन-मार्ग है। भक्ति का मार्ग आज भी सहज और स्वाभाविक है तथा परमार्थ-प्राप्ति के लिए विशेष अनुकूल है।

गृहस्थ का साधन।

गृहस्थ साधकों को अल्प साधन से ही अधिक फल की प्राप्ति होती है इस अल्प साधन के लिए भी उनको जिस मात्रा में विघ्न और प्रलोभनों के साथ संग्राम करके विजय प्राप्त करना पड़ता है उससे उनकी साधना का मूल्य बहुत बढ़ जाता है। संसार के नित्य नैमित्तिक कर्मो का यथाविधि सम्पादन भी साधना का अंग है। इन सभी कर्मो का सम्पादन विचार पूर्वक इस प्रकार करना चाहिए कि जिससे विषय-वासना क्रमशः नष्ट होती जाय, वैराग्य पुष्ट होता जाय, देहेन्द्रिय-मन विशुद्ध होकर तत्त्व साक्षात्कार के योग्य बन जाय और जीवन का सर्वांगीण कल्याण हो जाय। गार्हस्थ्यधर्मानुगत शास्त्रविहित कर्त्तव्यकर्मो का विचार पूर्वक निर्लिप्त भाव से भोगाभिसन्धि रहित होकर भगवत्सेवाबुद्धि से सम्पादन करने पर ही भगवत्प्रसाद से ऐसा आश्चर्यपूर्ण फल प्राप्त होता है। भगवान् विशेष शक्ति सामर्थ्य और सुयोग सुविधा देकर विशेष जीवों को तदुपयुक्त कर्मक्षेत्र में भेजते हैं एवं संसार में पुत्रकलत्र, बन्धुबान्धव, अतिथि, अभ्यागत, दीन-दुःखी राजा-प्रजा आदि जिन लोगों की सेवा-शुश्रुषा और भरण-पोषण आदि के लिए कर्मानुष्ठान किया जाता है, उन सबके अन्दर अन्तरात्मा रूप से स्वयं भगवान् नित्य विराजमान रहते हैं। सुतरां अभिमान ममता और योगासक्ति को त्याग कर भगवच्चरण में आत्मसमर्पण करके 'भगवत्प्रदत्त शक्ति और उपकरण द्वारा नानारूपों में भगवान की ही सेवा करता हूँ', इस प्रकार की

निश्चयात्मिक बुद्धि से भक्तिपूत चित्त से विधिपूर्वक कर्त्तव्य कर्मानुष्ठान का अभ्यास करना चाहिए एवं उसी में ही गृहस्थों का उत्कृष्ट साधन हो जाता है तथा मोक्ष समीपवर्ती हो जाता है। इस प्रकार के भक्तिनिष्ठ कर्मयोग के अनुशीलन से देह, मन बुद्धि सब समय ही पवित्र और भगवत्मुखी रहते हैं। देवमन्दिर में देवसेवा के समय या जपध्यानादि के समय जिस प्रकार देहेन्द्रिय मन और अन्तःकरण को पवित्र और भगवद्भावभावित रखना आवश्यक होता है एवं स्वभावतः ही उसके लिए चेष्टा भी होती है, उसी प्रकार आत्मस्वजनादि की सेवा, अधिकारी, प्रजा, पड़ोसी, आदि की सेवा, अतिथि, भिक्षुक दीन-दुःखी आदि की सेवा, समाज की सेवा, राष्ट्रसेवा, जीविकार्जनमूलक कार्य आदि सब कार्य ही देवसेवा बुद्धि से सम्पादन करने पर देहेन्द्रियमनबुद्धि वैसे ही पवित्र और भगवद्भावभावित रहते हैं एवं उसके लिए ऐकान्तिक आग्रह भी रहता है। उसके फलस्वरूप सत्य, प्रेम, पवित्रता आदि मोक्षानुकूल सद्गुणसमूह का अनुशीलन भी साथ ही साथ होता रहता है। अवसर के समय एकाग्रता के साथ जप, ध्यान और उपासना द्वारा हृदय में इस भक्ति, विचार, सेवाबुद्धि और साधनप्रवृत्ति को इस प्रकार जाग्रत और उद्दीपित रखना आवश्यक होता है कि जिससे नानाविध कार्यों के बीच में भी कभी विस्मृति न हो।

अन्तरंगा और बहिरंगा भक्ति

त्रिविधा बहिरंगा भक्ति

योगिराज जी के भक्ति विषयक उपदेशों का तात्पर्य संक्षिप्ततः निम्नलिखित रूप में विवृत किया जा सकता है। भक्ति दो प्रकार की होती है- अन्तरंगा और बहिरंगा। बहिरंगा भक्ति तीन प्रकार की होती है-सात्विकी, राजसी और तामसी।

तामसी भक्ति

हृदय में तामस संकल्प रखकर उनको चरितार्थ करने की इच्छा से जो देवार्चन में प्रेम होता है, उसी को तामसी भक्ति कहते हैं। क्रोध, हिंसा, दम्भ और मात्सर्य द्वारा चालित होकर किसी का अनिष्ट करने की इच्छा से, कामलोभादि के वशीभूत होकर,

इन्द्रियसुख सम्भोग की शक्ति और सुविधा प्राप्त करने की आकांक्षा से, विवाद, विसंवाद, मामला, मुकदमा आदि के समय शत्रु दमन के उद्देश्य से, व्याधि-पीड़ा, ज्वालायंत्रणा आदि से सामयिक अव्याहति प्राप्त करने की कामना से, अथवा अन्य किसी प्रकार के क्षुद्र सांसारिक स्वार्थसिद्धि की लालसा से ईश्वर या किसी देवता विशेष की सहायता की प्रार्थना करके उसके सन्तोष विधानार्थ संकल्पानुरूप आचारोपचार से पूजा, अर्चना, व्रत, उपवास, मन्त्र-तन्त्र, जपतप आदि के अनुष्ठान की जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, वही तामसी भक्ति है। इसमें आराध्य देवता के प्रति यथार्थ श्रद्धा या अनुराग नहीं रहता, मोक्षलाभ की या भगवद् दर्शन की आकांक्षा नहीं रहती, चित्त में आंध्यात्मिक भाव की प्रेरणा नहीं रहती, केवल मात्र अपनी क्षुद्र कामना की पूर्ति के लिए दैवीशक्ति की साहाय्य ग्रहणलिप्सा ही तामसी भक्ति का प्राण होता है। तामस भक्त एक ओर जिस प्रकार नाना प्रकार के तोषामोद द्वारा और व्रतोपवासादि कठोरताओं के अभ्यास द्वारा देवता का प्रसाद प्राप्त करने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार दूसरी ओर समय-विशेष पर देवता के प्रति अभद्र भाषा का भी प्रयोग करता है, उनके निकट अभिमान, हठ, क्रोध आदि भी प्रकट करता है, मन्त्र-तन्त्र और नानाविध प्रक्रिया द्वारा उनको वशीभूत करने का भी प्रयास करता है। इस प्रकार की भक्ति के अनुशीलन से विशिष्ट कामना चरितार्थता के साथ-साथ भक्ति वृत्ति और तत्सहगामी अनेकों सद्‌गुणों का कुछ - कुछ विकास होता है सही, किन्तु देह, मन का मालिन्य दूर नहीं होता, साक्षात् रूप से मुक्ति की सहायता नहीं होती। भक्ति के समान उत्तम हृदय वृत्ति को क्षुद्र लौकिक स्वार्थ-सिद्धि के अवान्तर उपाय रूप में व्यवहार करने से भक्ति का ही वस्तुत: निरादर होता है ।

राजसी भक्ति

इस जगत् में यश, मान, ऐश्वर्य, प्रतिपत्ति आदि एवं परलोक में स्वर्ग सुख देवत्व आदि बड़े-बड़े विषयों की कामना करके, सामर्थ्यानुरूप नाना प्रकार के यज्ञदान व्रतनियमादि वाह्यांगों के आडम्बर के साथ ईश्वर या देवता विशेष की पूजा-अर्चना करने से रजोगुणान्वित मनुष्यों की जो रति होती है, वह राजसी भक्ति है। यद्यपि राजसी भक्ति तामसी भक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठतर है एवं उन्नततर चित्तावस्था और विचार शक्ति का परिचायक है, तथापि यह परमार्थप्रद नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की भक्ति विषय-वासना

का आश्रय करके ही जाग्रत और क्रियाशील होती है। इसमें मोक्ष प्राप्ति जीवन का अभीष्ट नहीं जान पड़ता, भगवान के स्वरूप साक्षात्कार को साधना का लक्ष्य नहीं माना जाता, भगवान के प्रति निष्काम प्रेम नहीं होता, भगवान को जीवन का सर्वस्व समझ कर उनके चरणों में आत्मनिवेदन करने के लिये हृदय में ऐकान्तिक आग्रह नहीं होता। जब तक राजसी भक्ति अन्त:करण के ऊपर अधिकार किये रहती है, तब तक भक्त भक्ति साधना के अतुलनीय आनन्द का आस्वादन नहीं कर सकता, न इस तत्त्व की ही धारणा कर सकता है कि भक्ति जनित आनन्द की तुलना में सब प्रकार के विषय भोगों का सुख अति तुच्छ होता है एवं उसकी बुद्धि मानव-जीवन के श्रेष्ठतम् अधिकार के विषय में भी जागरूक नहीं रहती है। राजसी भक्ति चित्तशुद्धि में सहायता करती है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु जीवन को सम्यक प्रकार से सार्थक नहीं बना सकती। जिनके चित्त में तामसभाव और तामसी भक्ति प्रबल होती है, उनके लिये राजस भाव और राजसी भक्ति का आश्रय लेकर साधन जीवन में उन्नततर सोपान पर अधिरोहण करने की चेष्टा मंगलकारी होती है।

सात्विकी भक्ति

किसी प्रकार के ऐहिक या पारलौकिक बाह्यविषयभोग की कामना द्वारा प्रेरित न होकर, केवल चित्तकी विशुद्धि, मनुष्यत्व का उत्कर्ष, सत्य प्रेम पवित्रता का विकास, संसार-वासना की निवृत्ति, कर्मबन्धन से मुक्ति, भगवत्स्वरूप की अनुभूति और तत्त्वज्ञान में प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आकांक्षा हृदय में रखते हुये कर्त्तव्य बुद्धि से श्रद्धा वीर्य और अनुराग के साथ, बिना आडम्बर के भगवान की सेवा, पूजा, जप, ध्यान आदि के अनुष्ठान में अपनी शक्ति को लगाने के लिये हृदय में ऐकान्तिक आग्रह होता है, वही सात्विकी भक्ति मानी जाती है। भगवान और जीव का चिरन्तन सम्बन्ध ही यही है कि भगवान उपास्य हैं और जीव उपासक, भगवान आश्रय हैं और जीव आश्रित, भगवान प्रभु हैं और जीव उनका दास। भगवदुपासना जीव का स्वभाव सिद्ध धर्म है, न कि किसी दूसरे उद्देश्य की सिद्धि का उपाय है। शरणागत होकर सर्वस्वनिवेदन पूर्वक भगवान की उपासना में अपने को लगा देने से जीवन सार्थक हो जाता है। मन में किसी प्रकार की आकांक्षा न रख कर उनकी उपासना करने से सर्वांगीण कल्याण की प्राप्ति होती है। उपासना के विनिमय में जिस किसी वस्तु की प्रार्थना की जाती है उसकी अपेक्षा केवल उपासना का

मूल्य अनन्तगुना अधिक है। सकाम उपासना में किसी विषेष कामना की ही पूर्ति होती है, परन्तु निष्काम उपासना में सर्वार्थ सिद्धि होती है। उपासना के साथ किसी प्रकार की प्रार्थना का योग रहने पर केवल उपासना का मूल्य घटा दिया जाता है कुछ अधिक लाभ तो होता नहीं। विवेक बुद्धि के विकास के साथ-साथ यह उपासना तत्त्व जितना ही हृदयंगम होता है, उतना ही भक्ति के साथ मिश्रित तथा भक्ति के आवर्जना स्वरूप रजोभाव और तमोभाव विनष्ट हो जाते हैं, उतना ही भक्ति निष्काम, निराविल और निराषरण हो जाती है, उतना ही भोगाभिसन्धि रहित होकर भगवच्चरण में आत्मसमर्पण करने में और प्रेमानुराग के साथ भगवान की पूजार्चना, सेवा वन्दना, श्रवण कीर्तन, स्मरण चिन्तन आदि में लगे रहने में आनन्द बोध होता है। यह सात्विक भक्ति ही परमार्थ प्राप्ति का मार्ग है। इसके अनुशीलन से जीवन अपने आप मधुमय हो जाता है, देह मन आनन्द से भरपूर हो जाते हैं, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सब प्रकार के तापों की निवृत्ति हो जाती है एवं परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है। साधक मात्र को ही सात्विकी भक्ति के अनुशीलन का प्रयत्न करना चाहिये।

ज्ञानभक्ति प्रार्थना

योगिराज जी एक दिन बात-चीत के प्रसंग में शिष्यों से कहने लगे कि लोग ऐसे नासमझ हैं कि केवल 'दीजिये', 'दीजिये' ही करते रहते हैं। जो लोग एक पैसा पाने की योग्यता नहीं रखते, उनको यदि एक हजार रूपया दे दिया जाय, तो भी उनका अभाव दूर नहीं होता और फिर कहते रहते हैं 'और दीजिये', 'और दीजिये'। अभाव की पूर्ति नहीं होती, इच्छानुरूप भोग की प्राप्ति नहीं होती, तब भगवान को दोष देते हैं कि भगवान उनके ऊपर यथेष्ट कृपा नहीं करते। किन्तु वे इस बात को नहीं समझते कि यह अभाव कभी पूर्ण होने वाला नहीं, भगवान उनकी योग्यता से कहीं अधिक देते हैं तो भी उनका अभाव मिट नहीं सकता। लाभ द्वारा लाभ की आकांक्षा का पूर्ण होना सम्भव नहीं, भगवान क्या करें ? तथापि जिससे सब अभाव मिट जाता है, उसकी प्रार्थना तो लोग करते नहीं। भगवान से यदि किसी बात की प्रार्थना करना हो तो ज्ञानभक्ति मांगना चाहिये। ज्ञानभक्ति प्राप्त होने पर सभी प्रकार के अभावों की पूर्ति हो जाती है, सब प्रकार के चाह निवृत्ति हो जाती है तथा परमानन्दं की प्राप्ति हो जाती है। किसी प्रकार की

प्रार्थना न करके हृदय के ऐकान्तिक आकर्षण से उनकी उपासना करना ही सर्वश्रेष्ठ है। इसी को प्रेम कहते हैं। इसमें ज्ञानभक्ति और अभाव की निवृत्ति अपने आप हो जाती है। भगवान से माँगने की क्या आवश्यकता ? उनको प्रेम करने, प्रेमभक्ति के साथ उनकी आराधना करने से ही जीवन सार्थक हो जाता है। ऐसी बुद्धि लेकर उपासना करनी है। उपासना के विनिमय में कुछ चाहने से ही उपासना का गौरव घट जाता है, मूल्य कम हो जाता है।

अन्तरंगा भक्ति

भगवान के प्रति हृदय का अनुराग जब इस प्रकार स्वाभाविक हो जाता है कि, उसके भीतर किसी प्रकार के प्रयोजन का व्यवधान नहीं रहता है, जब प्रेम विगलित चित्त नित्यनिरंतर निरवच्छिन्न रूप से किसी कारण स्वभाव से ही भगवान की ओर प्रवाहित होता रहता है, प्रेमाञ्जनलिप्तचक्षु जब भीतर बाहर एक मात्र प्रेममय लीलामय भगवान् के अतिरिक्त और किसी का भी दर्शन नहीं करता, भक्ति के अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से जब भक्त का हृदय भगवान का और भगवान् का हृदय भक्त का हो जाता है तभी यह समझना चाहिए कि अन्तरंगा भक्ति की प्राप्ति हुई। अन्तरंगाभक्ति प्राप्त होने पर भगवान् स्वयं अपने स्वरूप, ऐश्वर्य, और माधुर्य को भक्त के हृदय में प्रकाशित करके भक्त को ज्ञान, प्रेम और आनन्द के रस में निमग्न रखते हैं। भक्त का हृदय ही भगवान् के विशेष आत्म प्रकाश का क्षेत्र है, एवं जिस हृदय में अन्तरंगा भक्ति का पूर्ण विकास होता है केवल उसी हृदय में भगवान् अपने परिपूर्ण स्वरूप को प्रगट करते हैं। उपासक के हृदय में भक्ति विकास के तारतम्य से ही भगवान् के स्वरूप प्रकाश का तारतम्य घटित होता है। भक्त जैसा होता है, उसको भगवान् भी वैसा ही जान पड़ते हैं। जिसको अन्तरंगा भक्ति प्राप्त हो जाती है वही ज्ञानी भक्त कहलाता है; एवं उन्हीं को भगवान् के वास्तविक स्वरूप का साक्षात् अनुभव होता है; जो एक, अद्वितीय, सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, प्रेम स्वरूप और आनन्द स्वरूप है एवं व्यावहारिक जगत् के भीतर बाहर सर्वत्र सब अवस्थाओं में सब कार्यों में ही उन्हीं की लीला का दर्शन होता है।

'एक दम किसी को अन्तरंगा भक्ति नहीं हो सकती। जब तक अन्तरंगा भक्ति न उत्पन्न हो तब तक बहिरंगा में श्रद्धा रखना।' 'सात्विकी भक्ति के अनुशीलन से शनैः शनैः अन्तरंगा भक्ति मिलती है।'

विश्वास

योगिराज जी भक्ति साधना में विश्वास को बहुत ऊँचा स्थान देते थे, एवं नाना प्रकार के उदाहरणों द्वारा विश्वास का माहात्म्य शिष्यों को हृदयंगम करा देते थे। वे कहते थे विश्वास में असीम शक्ति है। विश्वास की शक्ति से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति यथार्थ विश्वास के साथ यह कह सके कि, 'हे प्रभु आप इस स्थान पर ऐसी मूर्ति में मेरे समक्ष प्रकट हो जाँय' तो निश्चय ही भगवान् उसी स्थान पर उसी मूर्ति में प्रकट हो जायेंगे। प्रह्लाद जी का यह दृढ़ विश्वास था कि भगवान् सर्वत्र नित्य विराजमान रहते हैं एवं ऐकान्तिक आग्रह के साथ जिस स्थान पर उनसे प्रकट होने की प्रार्थना की जाती है वहाँ ही उनका आविर्भाव हो जाता है। इस विश्वास के प्रभाव से भगवान् स्फटिक स्तम्भ के भीतर से नृसिंहमूर्ति में प्रकट हो गए थे।*

---

*इस प्रसंग में वे शिष्यों को एक तात्कालिक घटना सुनाते थे। एक व्यक्ति मर गया तब उसकी स्त्री ने सती हो जाने का संकल्प किया किन्तु सती होना कानून के विरुद्ध था, इसलिए घर वाले उसे रोकने लगे क्योंकि वे डरते थे। तब सती ने इतनी बात की प्रार्थना की कि उसको इतना अवसर दिया जाय कि वह अपने पति के बगल थोड़ी देर के लिए लेट जाय। इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं दीखी और उसकी बात की अनुमति दे दी गयी। उसने प्रसन्न चित्त से मुस्कुराते हुए पति के शव की प्रदक्षिणा करके साष्टांग प्रणाम किया और बायें बगल लेट गई तथा आँखें मूद कर ध्यान मग्न हो गई। थोड़ी ही देर में दोनों शरीरों को लपेटती हुई अग्नि प्रज्वलित हो गई। सव लोग विस्मित हो गये। अग्नि बुझाने लगे। आग में जितना ही जल पड़ता उतना ही वह और बढ़ती थी। जल घृत का काम कर रहा था। सभी चकित होकर अन्तिम संस्कार करते- करते सतीत्व की प्रशंसा कर रह थे। यह है विश्वास की शक्ति।

विश्वास का स्वरूप

किन्तु किसी सत्य को केवल मान लेने से या बुद्धि में स्वीकार कर लेने से विश्वास करना नहीं होता, उसको सम्पूर्ण सत्ता से ग्रहण कर लेने को ही विश्वास कहते हैं। जिस सत्य को स्वीकार कर लिया गया, उसके द्वारा जब समग्र जीवन अनुप्राणित होता है, अर्थात् उसके ऊपर निर्भर करके संकटपूर्ण अवस्थाओं के भीतर भी अपने कर्त्तव्य साधन में जब बिन्दु मात्र भी संशय और शंका उत्पन्न नहीं होती, तभी समझना चाहिए कि यथार्थ विश्वास हुआ। विश्वास द्वारा ही मनुष्य का जीवन परिचालित होता है। जिसका विश्वास जैसा होता है, उसका जीवन भी वैसा ही होता है। जो व्यक्ति इस बात पर वस्तुत: विश्वास करता है कि भगवान् सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और मंगलमय है, संसार में नाना प्रकार की अवस्थाओं में विचरण करते हुए भी क्या कभी उसके चित्त में अमंगल की आशंका उठ सकेगी ? जो व्यक्ति साधारण विपत्ति के आते ही भय से घबड़ा जाता है, भविष्य का विचार करके व्याकुल हो जाता है, वह मुख से चाहे जो कुछ भी कहे, युक्ति से किसी भी तथ्य का प्रतिपादन करें, भगवान् के नाम कीर्तन में चाहे जितना आंसू गिराए, परन्तु यह नि:सन्देह है कि भगवान् पर उसका सच्चा विश्वास अभी उत्पन्न नहीं हुआ। जो व्यक्ति स्वजनों के रोगाक्रान्त होने पर अथवा अपने ही कष्ट की अवस्था में भगवान् के शरणापन्न होकर कुछ निश्चिन्त हो जाता है किन्तु पीड़ा और अधिक बढ़ जाने से चिकित्सक के शरणापन्न हो जाता है, उस व्यक्ति के अन्त:करण में भगवान् की मंगलमयी शक्ति की अपेक्षा चिकित्सक की मंगल विधायिनी शक्ति के ऊपर अधिक विश्वास होता है, इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा। व्यावहारिक जीवन में ही विश्वास की परीक्षा होती है। व्यावहारिक जीवन देखकर ही समझना होगा कि विश्वास किस विषय को आश्रय करके किस भाव में चित्त के ऊपर अधिकार कर बैठा है।

विश्वास साधन सापेक्ष है

जैसे विश्वास में अद्भुत शक्ति है उसी प्रकार विश्वास प्राप्त करना भी

बहुत कठिन है। यदि भगवान् में जीवन्त विश्वास उत्पन्न हो जाय, तो समझ लेना चाहिए कि जीवन पर्याप्त मात्रा में सार्थक हो गया। बहुत शास्त्रों का अध्ययन करके, महापुरुषों का उपदेश सुनकर, एवं युक्ति तर्क द्वारा ठीक सिद्धान्त पर पहुँच कर भी बहुधा विश्वास नहीं उत्पन्न होता, अर्थात् निर्धारित सत्य हृदय में अनुप्रविष्ट होकर हृदय को तद्भावभावित नहीं कर सकता। प्रत्युत प्राचीन संस्कार के प्रभाव से किसी – किसी व्यक्ति के हृदय में वर्तमान जीवन में शास्त्र युक्त विचार आदि की सहायता के बिना भी जीवन्त विश्वास देखा जाता है। किन्तु साधारण नियम यही है कि शास्त्र और महापुरुषों के अनुगत होकर विचारपूर्वक सत्य का निरूपण करके पुनः पुनः उस सत्य ज्ञान की आवृत्ति और तदनुसार जीवन नियन्त्रण द्वारा उसको विश्वास में परिणत करना पड़ता है। यथार्थ विश्वास, समय और साधन सापेक्ष है। चित्त जितना ही शुद्ध होगा, विश्वास उतना ही दृढ़ होगा। साधन करते जाओ, क्रमशः विश्वास का स्वरूप प्रकाशित होगा और विश्वास की शक्ति का बोध हो जायेगा। विश्वास की पूर्णता विश्वास के अनुशीलन द्वारा ही होती है, एवं अन्तःकरण का सन्देह आशंका और भय छूट जाता है। भ्रान्त विश्वास कितना भी दृढ़ हो, उसके अनुशीलन से जीवन सार्थक नहीं होता। शास्त्र और महापुरुष वाणी का तात्पर्य समझ कर, उसी में अविचल विश्वास करना आवश्यक है। असत्यनिष्ठ विश्वास जीवन को असत्यमय कर देता है, सत्यनिष्ठ विश्वास से ही जीवन क्रमशः सत्यमय होकर कृतार्थ हो जाता है।

भक्ति और भाव विकार

योगिराज जी अपने शिष्यों को भक्ति के अनुशीलन के विषय में अत्यन्त सावधानी के साथ चलने का उपदेश देते थे। भक्ति साधना में प्रवृत्त अनेकों साधक मूल को छोड़कर शाखा-प्रशाखा से लिपट जाते हैं अर्थात् मुख्य को छोड़कर गौण में फँस जाते हैं, एवं आवश्यकता से अधिक भाव प्रवणता और बाह्यव्यवहार में अस्वाभाविक भावोच्छ्वास को स्थान देकर बहिर्मुखीन हो जाते हैं। कोई-कोई अश्रु कम्प पुलक हास्य क्रन्दन नृत्य आदि को ही भक्ति का प्रधान

अंग मानकर स्वेच्छापूर्वक इन्हीं सबका अनुशीलन करते हैं, कोई-कोई हावभाव में, बातचीत में और लौकिक कार्यों में अतिरिक्त बाह्यिक आत्मगौरव हानिकर दीनता और स्त्रीजन सुलभ कोमलता दिखाते हैं, कोई-कोई तिलक चन्दन पुष्प-विल्वपत्र, आसन वसन, स्नान अङ्गमार्जन आदि बाहरी आचारनिष्ठा की ओर ही अधिक ध्यान देते हैं। इन सब बाहरी अनुष्ठानों के भार से दबकर अनेक क्षेत्रों में भजन प्राणहीन हो जाता है, दृष्टि बहिर्मुखी हो जाती है, भगवत्प्रेम आचारप्रेम में पर्यवसित हो जाता है, हृदय संकुचित हो जाता है और परमार्थ प्राप्ति में नाना प्रकार के बिघ्न उपस्थित होते हैं। सद्गुरु गम्भीरनाथ अपने शिष्यों में से किसी की भी ऐसी प्रवृत्ति देखकर उपदेश व्यवहार अथवा आकार इङ्गित से अपनी अप्रसन्नता प्रकट कर देते थे और यह बतला देते थे कि आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में ये सब अनुकूल नहीं हैं। भाव विह्वलता अनेक क्षेत्रों में भावग्राहिता की परिचायक नहीं होती, बाहरी उच्छ्वास अनेक क्षेत्रों में आन्तरिक भक्ति का निदर्शन नहीं होता, आचारनिष्ठा अनेक क्षेत्रों में परमार्थनिष्ठा के अनुकूल नहीं होता। जब अन्तर में भक्ति प्रेम का विकास होता है तो अनेक साधकों के देह मन के स्वभावानुसार नाना प्रकार के बाहरी लक्षण स्वभावतः स्फुरित होते हैं, सही, किंतु प्रेम भक्ति के विकास के बिना भी विशेष-विशेष अभ्यास के फलस्वरूप कितने बाहरी लक्षण देहेन्द्रिय के भीतर से स्वाभाविक लक्षणों के समान ही प्रकाशित हो सकते हैं। वे भक्ति के परिमापक नहीं होते। संसार में अनासक्ति, विषय-भोग में विरक्ति, लोभ भय क्रोध विद्वेष आदि की क्षीणता मानापमान, हानि-लाभ, निन्दा-प्रशंसा और सुख-दुःख आदि में निर्विकार सुप्रसन्न अवस्थिति, सब प्रकार के प्रलोभन और विपत्तियों के बीच सत्य, अहिंसा और सरलता में अविचल निष्ठा, सब जीवों को भगवत्स्वरूप समझ कर श्रद्धा और निराभिमानिता के साथ उनकी सेवा, जीवों के कल्याणार्थ स्वार्थ विसर्जन में और क्लेश स्वीकार में आनन्दबोध, सर्वदा नाम-जप तत्त्वविचार और लीलास्वादन में रति, कर्म और कर्मफल को भगवान् में समर्पण करके भगवान् के नित्य मङ्गलमयत्व पर निर्भर रहकर निश्चिन्त, निर्भीक और प्रशान्तभाव से जगत् में विचरण करना आदि लक्षण ही भगवद्भक्ति के परिचायक हैं। भक्ति

शास्त्र में प्रेम भक्ति से उत्पन्न होने वाले जिन सात्विक विकारों का वर्णन देखा जाता है, एवं प्रेमिक भक्तों के जीवन में अनेक स्थलों पर जो भावविकार परिलक्षित होते हैं, वे भक्ति के आनुषङ्गिक लक्षण मात्र हैं। भक्ति-साधन-समद्‌भुत प्रेम और आनन्द जब समग्र हृदय को द्रवीभूत, मथित और तरङ्गायित करके साधक की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के बोध का उल्लंघन करके उसको 'लोकबाह्य' बना देते हैं, एवं अश्रुकम्प-पुलक-बैवर्ण्य हास्यक्रन्दन नृत्यादि दैहिक और ऐन्द्रिक विकार रूप में प्रकट होता है, तभी वह सात्विक तथा अध्यात्म जीवन का अंग होता है। किन्तु कर्म ज्ञान और ध्यान में यथार्थ भक्ति के अनुशीलन में प्रवृत्त न होकर, इन सब आनुषङ्गिक भावविकारी के अनुकरण में ही मन लगाने से जो विकार उसके फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं, वे वास्तविक विकार एवं आध्यात्मिक जीवन की व्याधि ही होते हैं। जिस प्रकार योगाभ्यासलब्ध शक्ति और ऐश्वर्य को बाहर प्रकट करना चरमयोगफल प्राप्ति के मार्ग में विघ्नकर होते हैं, उसी प्रकार भक्तानुशीलनलब्ध भावसमूह भी स्वेच्छा से बाहर प्रकट करने पर चरमभक्ति फलप्राप्ति के विशेष अन्तराय हो जाते हैं।

भक्ति साधना एवं आचार और मतवाद

आचारनिष्ठा और मतवाद के सम्बन्ध में भी योगिराज जी के उपदेश उसी प्रकार के थे। किसी विशेष आचारपद्धति और उपासना प्रणाली के साथ एवं भगवत्तत्त्व और जीवतत्त्व सम्बन्धी किसी विशेष मतवाद के साथ भक्ति साधना का किसी प्रकार ऐकान्तिक सम्पर्क नहीं है। भक्ति देश-काल जाति सम्प्रदायनिर्विशेष मानव मात्र की ही साधारण सम्पत्ति है, मतवाद आचार उपासना प्रणाली आदि विशेष देश, विशेष काल, विशेष जाति या सम्प्रदाय की सम्पत्ति है। दर्शनशास्त्र विशेष मतवादों को लेकर अनेक प्रकार के युक्ति तर्कों की अवतारणा कर सकते हैं, एवं एक-एक दार्शनिक सम्प्रदाय विरोधी मतों का खण्डन करके अपने ही मत को एक मात्र सत्य बतलाकर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कर सकते हैं, किन्तु भक्ति साधना के क्षेत्र में इन युक्ति, तर्क और

मतवादों की कोई सार्थकता नहीं होती। यह समझना भूल है कि किसी विशेष मतावलम्बी होकर भगवदाराधना करने से यथार्थ भगवान् की आराधना होगी और आराधक कृतार्थ हो जायेगा, अन्यथा ऐसा नहीं होगा, इसमें भगवान् को भी छोटा कर दिया जाता है और अपने अन्दर भी संकीर्णता को प्रश्रय दिया जाता है। उसी प्रकार किसी विशेष पद्धति और रीति-नीति का अवलम्बन करने से ही भक्ति साधना होती है अन्यथा नहीं, ऐसा समझना भी साध्य साधन रहस्य सम्बन्धी अज्ञता का परिचायक है। जो लोग केवल अपने मत और मार्ग को ही चरम कल्याणप्रद समझते हैं एवं दूसरे मतों और पन्थों को भ्रान्त समझते हैं, अर्थात् निजमतावलम्बीऔर निजपथानुवर्ती लोगों को छोड़कर बाकी सब साधक को अज्ञ समझते हैं, वे वस्तुतः स्वयं ही नितान्त अज्ञ हैं और भगवत्तत्व तथा साधना सम्बन्धी तात्त्विक ज्ञान से शून्य हैं। महापुरुषोपदिष्ट किसी भी मत या पथ का विचारपूर्वक अनुसरण करते हुए श्रद्धा, विश्वास और अनुराग के साथ साधन करने से ही कृतार्थता प्राप्त होती है। भगवान् अनन्त भावमय हैं, एवं साधक भी विचित्र भावानुरागी और विचित्र स्वभावान्वित होते हैं। असंख्य भक्त असंख्य भावों में भगवान् की धारणा करके असंख्य प्रणालियों से उनकी आराधना करके श्रद्धा, वीर्य, विश्वास और अनुराग के तारतम्यानुसार द्रुतवेग से या मन्दगति से परमार्थ की ओर अग्रसर हो रहे हैं। भगवान् किसी मत या पन्थ के भीतर आबद्ध नहीं हैं, मानव प्रकृति भी किसी एक मत या पन्थ के भीतर आबद्ध होना नहीं चाहती। कोई साधक किसी भी प्रणाली और मतवाद का अनुसरण करके साधन भले ही करे, परन्तु विषय वैराग्य, समदर्शित्व, जीव सेवा में रति, निर्विकारता, सत्यप्राणता, अन्तर्मुखता और अन्तरानन्द आदि शास्त्रवर्णित भक्ति लक्षण जिसके जीवन में जिस मात्रा में प्रकाशित हों, समझना चाहिये, उसकी भक्ति साधना उसी मात्रा में सार्थक हो रही है। भक्त के प्राणों की अवस्था ही भक्ति का परिमापक होती है, मत या प्रणाली नहीं।

सद्गुरु गम्भीरनाथ भक्ति साधन के मूल तत्त्व के सम्बन्ध में शिष्यों को सर्वदा सजग रखने के लिये जिस प्रकार एक ओर किसी प्रकार के मतवाद या आचार-पद्धति का उपदेश देकर उनकी बुद्धि को सीमाबद्ध नहीं करना चाहते

थे, उसी प्रकार दूसरी ओर अपने प्रति उनके व्यवहार में भी भक्ति का बाहरी आतिशय्य प्रदर्शन, अस्वाभाविक दीनता और अतिरिक्त भावोच्छ्वास आदि नहीं दिखाने देते थे। वे आचरण और उपदेश द्वारा शिष्यों को सर्वदा शास्त्र और महापुरुषों का अनुगामी बनकर स्वाधीन विचार और इच्छाशक्ति के प्रयोग द्वारा वीर के समान ज्ञानमूलक और कर्मान्वित भक्ति का अनुशीलन करने की शिक्षा देते थे। इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ दृष्टान्त दिये जाते हैं।

पादुका पूजा

बहुत प्राचीन काल से भक्त समाज में गुरु-पादुका पूजा की रीति प्रचलित है। प्राचीन संस्कार के अनुवर्ती कोई-कोई शिष्य गुरुदेव की व्यवहृत काष्ठ पादुका पूजा करने के लिये ले जाने की अभिलाषा प्रकट करते थे। जिन दो एक शिष्यों ने इस सम्बन्ध में उनके मतामत की जिज्ञासा न करके सरल चित्त से उनके सामने व्यवहार के लिए एक जोड़ी नयी पादुका रखकर पुरानी को ले जाने की अनुमति माँगी, उनके कोमल हृदय पर आघात न लगे, मानो इसी भाव से उनकी प्रार्थना पूर्ण करने में और पूछने पर पूजा विधि भी बतला देने में कुण्ठित न होते थे। किन्तु जब कोई शिष्य इस विषय में उनसे उपदेश की प्रार्थना करता था, तब तो वे गम्भीरता के साथ कहते थे, "क्यों बन्धन में जाओगे ?" भक्ति साधना में विग्रह लिङ्ग पादुका आदि का नित्य यथाविधि पूजा निःसन्देह सहायक होती है, किन्तु मुमुक्षु साधकों के लिये इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। विशेषतः यथाविधि नित्य पूजा का संकल्प ग्रहण कर लेने और विग्रह लिङ्गपादुका आसन प्रतिष्ठित कर देने पर, यदि कभी नियम का लंघन या पूजा में त्रुटि हो जाय, तो अपराध होता है तथा प्रत्यवाय का भागी होना पड़ता है। जो लोग स्वेच्छा से इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहते हैं एवं निष्ठा के साथ यथा समय यथाविहित पूजार्चनादि कर सकते हैं उनका इससे मंगल अवश्य होता है। वे ऐसे सात्विक बन्धन की सहायता से काम, लोभादि जनित अनेक राजसिक और तामसिक बन्धनों से छुटकारा पा जाते हैं। जो लोग कोई संकल्प या कामना न रखकर केवल प्रेमानुराग के आवेग से ऐसे व्रत पूजन

का अनुष्ठान करते हैं, उनको अनिच्छाकृत नियम लंघन या अंगवैगुण्य का अपराध भी स्पर्श नहीं कर पाता। यह सत्य है। किन्तु परमार्थान्वेषी साधक के लिये इसमें भी आसक्ति रखना उचित नहीं। यह भी एक बन्धन है। ऐकान्तिक मुमुक्षु भक्त स्वेच्छा से सात्विक बन्धन भी स्वीकार नहीं करता। विचार के प्रभाव से आत्मनियन्त्रित होकर स्वाधीन रूप से जपध्यान तत्त्वानुशीलन आदि सर्वबन्धन विमुक्तिकारी आध्यात्मिक साधना में लगा रहना ही निःश्रेयस्कर और निष्कण्टक मार्ग है।

चरणामृत पान

बहुत से शिष्य आश्रम में रहते समय गुरुदेव का चरणामृत पान करते थे। साधारणतः जब वे सबेरे और शाम को पैर धोते थे तो उनकी दृष्टि बचाकर लोग उस स्थान से थोड़ा जल लेकर पान कर लेते थे। कोई-कोई भक्त कभी-कभी भक्ति प्रसूत आग्रह के साथ पात्र में जल लेकर उनके चरणोपान्त में उपस्थित होते थे और संकोच के साथ उसमें पाद स्पर्श कर देने के अनुग्रह की प्रार्थना करते थे। उनके अनुराग और आग्रहातिशय के प्रति श्रद्धा प्रदर्शन के लिए ही वे पहिले दो एक दिन तो जल में पैर का अँगूठा लगा देते थे। किन्तु तीसरे या चौथे दिन जब कोई उसी प्रकार उपस्थित होता तो जल का स्पर्श न करके कह देते थे 'बस'। किसी-किसी शिष्य को वे स्पष्ट भाषा में समझा देते थे कि, चरणामृत पान की आकांक्षातृप्ति के लिए थोड़ा सा जल लेकर, अपने मन में उसी में गुरुदेव या इष्ट देवता का चरण धोकर भक्ति विश्वास के साथ उसी को चरणामृत समझकर पान करने से ही काम हो जाता है, बाहरी चरण-स्पर्श की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। ऐसे उपदेश के अनन्तर भी एक भक्त उनसे चरण प्रक्षालित जल के वास्ते रोज प्रार्थना करते थे। इस पर एक दिन वे विरक्ति के साथ बोले, "वैरागी के माफिक क्यों करते हो ?" बाहरी आचरण से इस प्रकार भक्ति के आतिशय्यप्रदर्शन से क्या लाभ ? जब भी कोई बातचीत में या कार्य में भक्ति का बाहरी आधिक्य प्रदर्शन करता था, तभी वे ऐसी ही मीठी फटकार या आकार इङ्गित के द्वारा उससे निवृत्त होने का उपदेश देते थे। तथापि

दूर से आने वाले भक्तों, विशेषत: स्त्रियों को विदाई के समय चरणोदक प्रसादी आदि चाहने पर वे बाधा नहीं देते थे। ऐसे समय में तो उनके चित्त की कोमल वृत्ति ही प्रकाशित होती थी।

प्रणाम, पूजा और आरति

अपने समक्ष जमीन पर लेटकर साष्टाङ्ग प्रणाम करना वे पसन्द न करते थे। जब किसी भक्त को ऐसा करते देखते तो प्रथम दो एक दिन तो नीरव रहते परन्तु बाद में धीर भाव से कह देते "बैठ के प्रणाम करना।" वे इशारे से या उपदेश से सर्वदा ही बतला देते थे कि भक्ति जितनी ही भीतर विकसित हो उतनी ही अच्छी है, उसे बाहर प्रकट करके हलका करना ठीक नहीं। प्राण की वस्तु को प्राणों के भीतर ही आदरपूर्वक रखना चाहिए। दीक्षाकाल में शास्त्रविहित होने के कारण पुष्पचन्दन से आडम्बर रहित गुरु चरणपूजा का निषेध वे नहीं करते थे। परन्तु दूसरे समय बिना आडम्बर के भी उनका उस प्रकार पूजा करना सम्भव न था, धूप, आरती करना तो बहुत दूर की बात थी। तो भी प्रणाम के समय दो एक फल या माला चरणों पर अर्पण करने से वे निषेध नहीं करते थे। श्री श्री गोरक्ष नाथ मन्दिर में आरती के अन्त में महन्त जी की आरती करके जब पुजारी धूपदानी आदि लेकर योगिराज जी के सामने आता, उस समय यदि वे समाधिमग्न अवस्था में वाह्यचेतनाशून्य न होते, तो तुरन्त कह देते थे, "बस"। फिर तो उनकी आरती उतारना सम्भव न था।

दैन्य प्रकाश

योगिराज गम्भीर नाथ जी के निकट जब कोई दीनता दिखलाता, अपने को पापी, दुर्बल, अक्षम, कहता अथवा कातरता के साथ कृपा की भिक्षा माँगता, तो वे कुछ विरक्ति का भाव दिखाते थे। इसको वे आत्मभावना तथा मनुष्यत्व की अवमानना समझते थे, एवं देखा जाता था कि शिष्यों के ऐसे व्यवहार से उनके प्राणों में वेदना होती थी। जिन शिष्यों के ऐसे व्यवहार में तेज, वीर्य, निर्भीकता, कर्मकुशलता, दुर्दम्य पुरुषकार और अविचल आत्म-विश्वास का

परिचय मिलता उनके प्रति उनका कुछ विशेष प्रसन्न-भाव लक्षित होता था। ऐसा कोई वीर भक्त जब उनके सम्मुख उपस्थित होता अथवा जब किसी ऐसे भक्त की चर्चा उठती, तो जान पड़ता था कि उनके दुर्भेद्य गाम्भीर्य को भेदकर एक आनन्दोल्लास की रेखा उनके मुखमण्डल पर चमक जाती थी।

आगे चलना पीछे न ताकना

एक बार योगिराज जी के एक विशेष भक्त शिष्य अपने अतीत जीवन की दुर्बलता और पाप कर्मों पर अनुतप्त होकर रिव्रस्तान भक्तों का अनुकरण करते हुए गुरुदेव के निकट अपने सब दोषों को कह देने के लिए उपस्थित हुए। उनका अभिप्राय था कि श्री गुरुचरणों में सब पाप-ताप, दोष त्रुटि की बातें सरलता के साथ निवेदन करके अश्रु सिक्त नयनों से क्षमा मागेंगे एवं गुरु कृपा तथा अनुताप की ज्वाला से निष्कृति प्राप्त करेंगे। वे जब गुरुचरणों के निकट उपस्थित हुए और अर्धनिमीलित नेत्र स्वभावसमाहित उनकी दृष्टि को आकर्षण करने के लिए थोड़ी ही देर खड़े रहे, कि योगिराजजी अपनी अति करुणाप्लुत दृष्टि शिष्य के विषण्ण मुख पर डालते हुए मृदु गम्भीर स्वर से बोले, "नहीं, जो हुआ सो हो चुका, उसका ख्याल मत करना; आगे चलना, पीछे न ताकना" शिष्य ने कुछ न कहा, उनका विषाद मिट गया, प्राणों में बल का सञ्चार हुआ और चित्त प्रशान्त हो गया। वे प्रणाम करके लौट गये। उनके कानों में ध्वनित होने लगा 'आगे चलना, पीछे न ताकना।'

अपने को बद्ध और दुर्बल न सोचो

योगिराजजी शिष्यों को उपदेश देते थे कि, अतीत जीवन की दुर्बलताओं के विषय में चिन्तन नहीं करना चाहिये। दुर्बलता और पाप कर्मों की बात जितना ही स्मरण करोगे, उतना ही दुर्बलता और पाप के संस्कार गाढ़तर होते जायेंगे। सर्वदा आत्मचिन्तन और सच्चिन्तन करना चाहिये। आत्मचिन्तन द्वारा सब प्रकार के अशुभ संस्कार विनष्ट हो जाते हैं। अपने को कभी पापी, दुर्बल या बद्ध नहीं सोचना चाहिये, सर्वदा अपने को मुक्त सोचो। जो जैसा चिन्तन करता है, वह

वैसा ही हो जाता है। दुर्लभ मानव-जन्म मिला है, ज्ञान, भक्ति का संस्कार अन्तर में निहित है, साधनोपयोगी देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि विद्यमान हैं, सत्संग, सदुपदेश और सत्प्रवृत्ति प्राप्त हुई है, भीतर अज्ञान रूप में अपरिमित शक्ति छिपे-छिपे काम कर रही है, तो अपने को छोटा मानोगे क्यों, पापी, दुर्बल, दीन-हीन समझोगे क्यों ? तुम कौन हो, तुम्हारा यथार्थ स्वरूप क्या है, तुम्हारा अधिकार कितना ऊँचा है-इन्हीं बातों का सर्वदा स्मरण करना चाहिये। दुर्बलता, पापवृत्ति, संसारासक्ति, दुःख-यन्त्रणा, भोग-ये सभी आगन्तुक हैं और अल्पकाल स्थायी हैं। आत्मा स्वरूपतः शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आनन्दमय और सब शक्तियों का आधार है - इस बात को कभी भी न भूलो। आत्मा के महामहिमाशाली स्वरूप का चिन्तन करते-करते ही सब प्रकार की आगन्तुक मलिनताएँ नष्ट हो जायेंगी।

निष्काम और निश्चिन्त भाव से तथा भगवत्सेवा बुद्धि से कर्म

वे कहते थे, "क्या हुआ, क्या होता है, और क्या होगा, कुछ होगा कि नहीं होगा, यह सब ख्याल करने की कोई जरूरत नहीं है, विचार से जैसा अच्छा मालूम हो, वैसा करते रहो। उसी से सब ओर मंगल होगा। कभी किसी विषय में आकांक्षा न रखना, मुक्ति तक के लिये भी नहीं। किसी प्रकार की आकांक्षा न रखना ही मुक्ति है। सब कर्मों तथा सभी साधन भजन का फल परमेश्वर को समर्पण कर दो। चाह में ही दुःख चाह में ही दीनता, चाह में ही भय और चंचलता। न चाहने में ही सुख, न चाहने में पूर्णता तथा न चाहने में ही अभय और आत्मप्रतिष्ठा है। अपने लिए कोई कामना न रखकर सब कुछ भगवान् को अर्पण कर दो और अपने को भगवान् की सेवा में उत्सर्ग कर दो। जप-तप, पूजा-अर्चना, दान-ध्यान, परिवार, सेवा, समाज सेवा, साधु सेवा, दरिद्र सेवा, अतिथि सेवा, अध्ययन-अध्यापन, धन सम्पदुपार्जन-जो कुछ करते हो, मन, वाणी, शरीर द्वारा जिस किसी कर्म का सम्पादन करते हो, सभी भगवान् के उद्देश्य से करो, सब भगवान् की सेवा समझ कर करो, एवं सब कर्मों के सब प्रकार के फलों को भगवान् को ही निवेदन कर दो। यही है कर्म का कौशल।

जब इस प्रकार कर्म कर सकोगे तभी मुक्त हो जाओगे – कर्म के दोष गुण तुमको स्पर्श नहीं करेंगे, किसी प्रकार की हीन-बुद्धि भी तुमको विचलित नहीं करेगी, सब ओर ही मंगल होगा। यदि कभी भ्रान्तिवश पाप कर्म भी कर डालो, तो उसे भी भगवान् को निवेदन कर दो। स्वयं किसी विषय में अभिमान न रक्खो, ममता न रक्खो, और न रक्खो आशा, न करो अफसोस। कर्म और भोग सब भगवान् के चरणों पर समर्पण कर दो, एवं स्वयं को भगवान् का ऐकान्तिक सेवक मानकर विचारपूर्वक यथाविहित कर्म और भोग करते रहो। निष्कपट चित्त से दृढ़ विश्वास के साथ सब कुछ भगवान् को सौंप सकने पर और कोई बन्धन नहीं रह जाता, भय-भावना नहीं रहती, दुःख-दैन्य नहीं रह जाता। अपने को जितना ही रिक्त करके भगवान् की सेवा में लगा सको उतना ही मंगल होगा।"

निष्काम भाव से नाम जप

कोई-कोई लोग पूछते थे कि यह किस प्रकार समझा जाय कि हम जो नाम-जप करते हैं वह ठीक होता है या नहीं, एवं साधन में उन्नति हो रही है या नहीं। इसके उत्तर में गुरुदेव कहते थे कि यह समझने की आवश्यकता क्या है ? जप करने से कोई विशेष फल प्राप्त होगा, ऐसी आशा या आकांक्षा लेकर जप करना अच्छा नहीं, उससे जप का सम्यक् फल प्राप्त नहीं होता; जप ठीक होता है या नहीं, ऐसा कोई सन्देह भी मन में न आने देना चाहिए। "मैंने गुरु का आश्रय लिया है, गुरु ने हमें नाम दीक्षा प्रदान करके जप करने का आदेश दिया है, यथाशक्ति जप करना मेरा अवश्य कर्त्तव्य है, एवं इससे मेरा कल्याण अवश्यम्भावी है"। इस प्रकार विचार करके कर्त्तव्य समझ कर विश्वास और अनुराग के साथ जप करना चाहिये, मन में किसी प्रकार की आकांक्षा रखना उचित नहीं। कितनी उन्नति हुई या नहीं हुई, यह सोचने या जानने की आवश्यकता नहीं। फलाफल गुरु या भगवान् के हाथ में सौंप रखना ही अच्छा है। जप करते-करते नाम की शक्ति से जो प्राप्त होगा वह अपने आप ही होगा। उच्चारण की शुद्धाशुद्धि के ऊपर भी नाम की शक्ति निर्भर नहीं करती। निष्कपट

चित्त से श्रद्धा-भक्ति के साथ जप करते रहने पर उन्नति अवश्य होगी। एक जीती-जागती लता प्रति मुहूर्त बढ़ती है, किन्तु प्रति मुहूर्त उसकी वृद्धि उपलब्धि गोचर नहीं होती, उसी प्रकार साधक की उन्नति भी प्रति मुहूर्त ही अलक्षित रूप से धीरे-धीरे होती रहती है, उसका पता नहीं चलता, एवं उसे ताकने की भी आवश्यकता नहीं होती। कुछ दूर अग्रसर होने पर, संसारासक्ति का ह्रास, भगवच्चिन्ता में तन्मयता, विचार शक्ति का विकास; देहइन्द्रिय मन का प्रशान्त भाव, षड्रिपुओं के ऊपर आधिपत्य, प्राणों की उदारता, समदर्शिता, जीव कल्याणोन्मुखता आदि साधुजनोचित लक्षण समूह अपने आप उदित होंगे। अपनी उन्नति की ओर दृष्टि जितनी ही आकृष्ट न हो उतनी ही अच्छी।

निष्काम चित्त से पूजा भोग

कोई-कोई शिष्य पूछते थे कि जब हम लोग गुरुदेव के निकट रहते हैं और फल-फूल अन्न-व्यञ्जनादि जो कुछ निवेदन करते हैं उसे गुरुदेव कृपा करके ग्रहण करते हैं, जिससे हमें अत्यधिक आनन्द प्राप्त होता है, परन्तु दूर रहते समय हम जो कुछ निवेदन करते हैं, वह गुरुदेव के निकट पहुँचता है, या गुरुदेव उसे ग्रहण करते हैं या नहीं, क्या इस बात को जानने का कोई उपाय है ? इसके उत्तर में वे कहते थे कि इस प्रकार के सन्देह को मन में स्थान देना अनुचित है तथा इस विषय में कोई प्रमाण पाने की आकांक्षा रखना भी अनुचित है। जिस कार्य को कर्त्तव्य तथा कल्याण कर समझते हो उसे विश्वासपूर्वक कर्त्तव्य समझ कर पूरा करो। श्रद्धा भक्ति के साथ पूजार्चना भोगरागादि निवेदन करने पर वह निश्चय अभीष्ट देवता के निकट पहुँचता है और वे उसे निश्चय ग्रहण करते हैं-ऐसा दृढ़ विश्वास रखना चाहिए, इसमें संशय आयेगा क्यों ? जो कुछ अभीष्ट देवता के लिए आयोजन करते हो, उसे विधिपूर्वक पवित्रता के साथ सज्जित करके उनका स्मरण और ध्यान करो, एवं श्रद्धाभक्ति और विश्वास के साथ उनको निवेदन कर दो। ऐसा करने से, समझ रक्खो, वे अवश्य ग्रहण करेंगे। न इसमें कोई सन्देह रक्खो न कोई कामना। इन कार्यों को सकाम भाव से करने पर अङ्ग हानि विधिलंघन आदि दोषों की आशंका रहती है; निष्काम चित्त से सेवा बुद्धि से भक्ति विश्वास के साथ करने पर कोई दोष स्पर्श

नहीं करता तथा सब ओर मंगल होता है ।

निष्काम भाव से तीर्थ भ्रमण और देवता दर्शन

योगिराज जी तीर्थपर्यटन, देवता दर्शन, साधु सेवा आदि सभी पुण्य कर्मों को निष्काम भाव से भक्ति साधना का अंग समझ कर सम्पादन करने का उपदेश देते थे। किसी तीर्थ में कौन देवता कितना जागृत है, कहाँ किस देवता की कितनी शक्ति और ऐश्वर्य है, किस तीर्थ में जाने से या किसी देवता का दर्शन और पूजन करने से कितना और कौन विशेष फल प्राप्त होगा, ऐसे हिसाब किताब की बात मन में लगाना ही अनुचित है । तीर्थ पर्यटन और देवता दर्शन से भगवान् की सेवा होती है, देह मन का पाप और मलिनता धुल जाती है, एवं अन्तःकरण में सुप्त और दुर्बल सद्वृत्तियाँ उद्‌बुद्ध और सतेज होकर असद्वृत्तियों को विनष्ट कर देती हैं,-ऐसा निष्कपट विश्वास लेकर तीर्थ और देवता के शास्त्रोक्त माहात्म्य का स्मरण करते हुए कर्त्तव्य बुद्धि से संयतचित्त होकर श्रद्धाभक्ति के साथ यथाविधि तीर्थ पर्यटन देवतार्चन आदि अनुष्ठान करना चाहिए। मन में कोई सन्देह आने नहीं देना चाहिए, किसी विशेष प्रत्यक्ष फल प्राप्ति की आकांक्षा रखना भी उचित नहीं। भगवत्सेवा बुद्धि से शास्त्रवाक्यों का अनुसरण करते हुए इन कार्यों को करना चाहिए । जिसको जो दान दिया जाता है, वह भगवान् को ही दिया जा रहा है और भगवान् ही उसे ग्रहण कर रहे हैं, ऐसी धारणा रखकर श्रद्धा के साथ दान करना चाहिए एवं जिससे जो ग्रहण किया जाता है वह भी भगवान् का ही दान है, ऐसा समझ कर ग्रहण करना चाहिए ।

इस प्रकार देहेन्द्रिय मन बुद्धि द्वारा सम्पाद्य, स्थूल और सूक्ष्म, ऐहिक और पारत्रिक, पारिवारिक और सामाजिक, सभी कर्म श्रद्धा और वीर्य, तेज और निरभिमानता, स्वाधीनता और नम्रता, दक्षता और निष्कामता, सुदृढ़ आत्मविश्वास और निश्छल जीव प्रेम के साथ भगवत्सेवा बुद्धि से सम्पादन करना उचित है, एवं सब कर्म तथा साधन भजन का फल भी भगवान् को ही समर्पण कर देना चाहिए । इसी को लोकगुरु गम्भीर नाथ जी इस युग का उत्तम धर्म बतला कर उपदेश देते थे एवं अपने आचरण द्वारा भी शिष्यों को यही शिक्षा देते थे ।

सप्तमोपदेश

धर्म सूत्र

धारणाद्धर्म इत्याहु धर्मो धारयति प्रजा: ।
यत्स्याद्धारण संयुक्तं सधर्म इति निश्चय: ॥
सर्वे वर्णा धर्म कार्याणि सम्यक् ।
कृत्वा राजन् सत्यवाक्यानि चोक्त्वा
त्यक्त्वाधर्मं दारुणं जीवलोके
यान्ति स्वर्ग नात्र कार्यों विचार: ॥

सभी शास्त्र और सब महापुरुष इस बात की घोषणा करते हैं एवं विचारशील मनुष्य मात्र ही इसे स्वीकार करने को बाध्य है कि, यदि विषय लोलुप दुर्वृत्त इन्द्रियों को संयम की सुदृढ़ श्रृङ्खला द्वारा सुनियन्त्रित न रक्खा जायेगा, प्रत्याहार के कशाघात द्वारा उच्छृंखल मनोवृत्तियों को वश में न रक्खा जायेगा, नियमित अभ्यास की सहायता से मनुष्यत्व संकोचक और सांसारिकत्वबर्धक आचार व्यवहारों का परित्याग न किया जायेगा, एवं ज्ञान भक्ति विकास के अनुकूल उदार रीति-नीतियों के अवलम्बन द्वारा जीवन परिचालन करने का सामर्थ्य न प्राप्त किया जायेगा, तो मानव जन्म को सार्थक करना कदापि सम्भव न होगा । नाना प्रकार के सांसारिक बन्धनों में आवद्ध जीव के लिए उन बन्धनों से उद्धार पाने के लिए शास्त्रविहित और गुरुपदिष्ट धर्म नियमों का बन्धन स्वीकार करना और उसके अधीन होकर जीवन के सब विभागों का परिचालन करने में प्रयत्नशील होना, अत्यन्त आवश्यक है, इस बात को अस्वीकार करने का कोई उपाय नहीं । इसी उद्देश्य से यदि अन्तर्दर्शी गुरु शिष्य की अन्त:प्रकृति की पर्यालोचना करके उसको साध्य साधनोपदेश के साथ कुछ अवश्य पालनीय विधिनिषेध के अधीन कर देते हैं, एवं शिष्य भी यदि गुरु के आदेश से बाध्य हो कर उन नियमों को निर्विचार मानकर चलने का अभयास करना है, तो शिष्य का कल्याण मार्ग सुगम हो जाता है । इसमें

शिष्य का दायित्व बहुत घट जाता है, एवं ऐसा बोध होता है कि मार्ग भी बहुत कुछ सरल हो जाता है ।

योगिराज की आदेश प्रदान की अनिच्छा

किन्तु नवीन भाव के लोकशिक्षक बाबा गम्भीरनाथ आदेश या उपदेश द्वारा शिष्यों के साधन के अंगस्वरूप अवश्य-पालनीय किसी आचार व्यवहार का निर्देश करना नापसन्द करते थे, वे शिष्यों को साधन जीवन में किसी प्रकार के बन्धन में रहने को बाध्य नहीं करते थे । शिष्यों को किसी प्रकार का आदेश देने में उन्हें संकोच होता था । उनके आचरण का अवलोकन करने से मेरी क्षुद्र विचार बुद्धि में तीन कारण दिखाई पड़ते हैं । प्रथमतः शिष्यों के शारीरिक और मानसिक दुर्बलता के प्रति उनके प्रेमपूर्ण हृदय में ऐसी गम्भीर सहानुभूति थी कि उन लोगों के ऊपर किसी प्रकार विधिनिषेध का बोझा लादने में उन्हें संकोच होता था । द्वितीयतः मनुष्य मात्र के ही विचार बुद्धि की स्वाधीनता के प्रति उनको ऐसी प्रगाढ़ श्रद्धा थी कि, वे किसी विषय में शरणागत शिष्यों की भी बुद्धि और इच्छा को अपनी बुद्धि और इच्छा के सम्पूर्ण अधीन करके रखना मनुष्यत्व की अवमानना समझते थे । तृतीयतः वे अलक्षित रूप से शिष्यों के अन्तर में जो आध्यात्मिक शक्ति संक्रामित करते थे एवं उनके सर्वाङ्गीण कल्याण के लिए जो शुभेच्छा प्रेरण करते थे उसी के सर्वार्थ साधन क्षमता के ऊपर उनको ऐसा अटूट विश्वास था कि, वे और किसी मौखिक आदेश देने की आवश्यकता ही नहीं समझते थे ।

गम्भीरनाथ धर्म सूत्र

दीक्षा प्रदान के समय योगिराज जी कुछ थोड़े से उपदेश-वाक्य बोलते थे । यह कोई नियम न था कि वे इन वाक्यों को सभी शिष्यों से कहें अथवा जब कहें तो इन सबको कहें । किन्तु विभिन्न दीक्षार्थियों के निकट प्रायः बिना जिज्ञासा के ही कोई -कोई उपदेश वाक्य उस मौनी महापुरुष के श्रीमुख से स्वयं विनिःसृत हो जाते थे, अतएव उनका विशेष मूल्य है । इन थोड़े से सूत्रों के भीतर साध्यसाधन सम्बन्ध में गुरुदेव के अभिप्राय का पता चल जाता है

एवं इनका अनुवर्तन कर सकने पर सर्वाङ्गीण कल्याण की प्राप्ति सुनिश्चित है।

१. ब्रह्मा विष्णु शिव काली दुर्गा सब देवता एकही हैं ।
कोई भेद बुद्धि मत रखना । रूप बहुत हैं, स्वरूप एकही हैं ।

2. सनातन धर्म मानकर चलना ।

3. देवद्विजों पर भक्ति रखना ।

4. नाम पर विश्वास रखना, और नाम गोपन रखना, सबेरे और शाम को एक घण्टा आधा घण्टा पाव घण्टा जितना फुरसत हो, नाम जप करना।

5. साधु और दीन दुखियों को प्रेम से दान करना, और याद रखना कि भगवान् की ही सेवा करता हूँ । कोई स्थान खाली नहीं है, सर्वत्र भगवान् हैं।

6. सत्य कहना, कपटाचरण नहीं करना ।

7. परनिन्दा नहीं करना ।

8. सब धर्मों को मान देना ।

9. विचार करना; विचार से जो काम खोटा मालूम हो, ऐसा काम न करना ।

10. फल कामना छोड़ के ईश्वर सेवा बुद्धि से सब अच्छा काम करना, यह ही गृही का उत्तम साधन है ।

प्रेमघनमूर्ति सद्गुरु गम्भीरनाथ जी शिष्यों को गुरु वाक्य-लंघन-जनित अपराध से बचाने के लिए अपने उपदेशों में प्रायः ही 'यथाशक्ति' अथवा उसी अर्थ का कोई दूसरा शब्द जोड़ दिया करते थे या कभी उसे उह्यही रखते थे। उपर्युक्त सूत्रों में से प्रत्येक के सम्बन्ध में शिष्यों ने विभिन्न समयों पर नाना प्रकार के प्रश्न पूछे थे, एवं गुरुदेव भी उनके उत्तर में अनेक प्रकार से इन सब धर्म सूत्रों का मर्मार्थ उन्हें हृदयंगम करा देते थे । सब बातें तो ज्यों की त्यों कहीं नहीं जा सकतीं । उनकी व्याख्या का मर्म यथा-सम्भव देने की चेष्टा करता हूँ। प्रथम, चतुर्थ, नवम, और दशम सूत्रों की व्याख्या प्रसंगतः पहिले ही दी जा चुकी है । शेष सूत्रों के सम्बन्ध में उनके उपदेश का तात्पर्य यहाँ उपस्थित करने का प्रयत्न करूँगा ।

सनातन धर्म

योगिराज जी शिष्यों को यही उपदेश देते थे कि सभी कार्यों में सनातन धर्म का निर्देश समझ कर उसी के अनुसार आचरण करना चाहिए। सनातन धर्म मानव-प्राण का चिरन्तन धर्म है। यह किसी विशेष मतवाद या उपासना पद्धति किंवा आचार निष्ठा के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं है। मानव प्राणों की चिरन्तर आकांक्षा और चिरन्तन अधिकार जिस धर्म की भित्ति है, अपने निज स्थान पर विश्रान्ति प्राप्त करने के लिये समुत्कंठित मानवात्मा के साथ विश्वनियन्ता नित्यमुक्त भगवान् के एवं समग्र विश्व और विश्वांगीभूत चेतनाचेतन सभी पदार्थों के चिरन्तन सम्बन्ध का अवलम्बन करके जो धर्म क्रमविकासशील हैं, जिस धर्म के विधान से विश्व के भीतर विभिन्न जातीय असंख्य शक्ति पुञ्जों के अविराम संग्राम के चलते रहने पर भी साम्य सुश्रृङ्खला अव्याहत रहती है, जो धर्म जगत् में आपातत: परिदृश्यमान वैषम्य को अभिभूत और वैचित्त्य को एकीभूत करके माधुर्यमय चिदानन्द स्वरूप विश्व प्राण को प्रकाशित करता है, एवं मानव-प्राण को सब प्रकार के मालिन्य चाञ्चल्य और अज्ञानता से मुक्त करके क्रमश: उस विश्व प्राण के साथ उसकी एकता का, अनुभव करा देता है, उस शाश्वत विश्वजनीन धर्म को ही सनातन धर्म कहते हैं। विभिन्न उपासना प्रणाली, विभिन्न प्रकार के योगयज्ञ व्रत नियम योग तपस्या और विभिन्न प्रकार के रीति नीति आचार व्यवहार, सनातन धर्म के देह और अंग प्रत्यंग हैं। देह परिवर्तनशील है, किन्तु उसका अन्तरात्मा स्वरूप सनातन धर्म नित्य है। नित्य अविक्रिय सनातन धर्म मानव सृष्टि के प्रारंम्भ से नाना प्रकार के मतवाद साधन प्रणाली और आचारनिष्ठा के भीतर से प्रकट होकर विभिन्न देश में विभिन्न काल में और विभिन्न अवस्था में विभिन्न प्रकृति विशिष्ट मनुष्यगण के अन्तर्जीवन और बहिर्जीवन को सुनियन्त्रित करके उनको सम्यक् कृतार्थता की ओर ले जा रहा है, एवं वैषम्यतरंगायित मृत्यु विभिषिकाग्रस्त संसार समुद्र को साम्य, अमृत और अभय की संगीत धारा वर्षण द्वारा शान्तिमय आनन्दमय और सौन्दर्यमय बना रहा है।

साम्प्रदायिक धर्म

सनातन धर्म ही नाना प्रकार के रूपरूपान्तन ग्रहण करता है और इसी से विभिन्न साम्प्रदायिक धर्मों की सृष्टि होती है । युग भेद और देश भेद से इन साम्प्रदायिक धर्मों का प्रकाश होता है, एवं अपना अपना प्रयोजन पूरा करके फिर सनातन धर्म ही के भीतर विलीन हो जाते हैं । सनातन धर्म नित्य है, कल्पान्त में भी उसका विनाश नहीं होता । कोई साम्प्रदायिक धर्म जब साम्प्रदायिकता के घेरे को ही मजबूत और दुर्भेद्य बना देता है अर्थात् साम्प्रदायिक मतवाद और आचार पद्धति रूपबाहरी अंगों की प्रधानता पर ही अधिक जोर देते हुए उन्हें ही सब देशों और सब कालों में प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न में उनके प्राणस्वरूप सनातन धर्म के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा करता है, तभी समझना चाहिए कि, उनकी जीवनी शक्ति क्षीण हो चली, एवं वह आध्यात्मिक जीवन का व्याधि बनकर संस्कार अथवा विनाश की अपेक्षा करता है । प्रत्येक साम्प्रदायिक धर्म की प्रयोजनीयता और पुरुषार्थ साधन क्षमता का निर्धारण सनातन धर्म की मूलनीति पर लक्ष्य रखकर ही करना चाहिये । योगिराज गम्भीरनाथ जी अपने शिष्यों को किसी साम्प्रदायिक घेरे के भीतर रहने और किसी प्रकार की संकीर्णता को प्रश्रय देने का निषेध करते थे । उदार सार्वजनीन सनातन धर्म के सुदृढ़ भित्ति पर अपने जीवन को गठन करने का उपदेश देते थे, एवं सब मतवाद, आचारनिष्ठा आदि सनातन धर्म के तुलादण्ड पर तौलकर ग्रहण करने का उपदेश देते थे । सनातन धर्म की ओर अनिमेष दृष्टि बनी रहने पर ज्ञात होता है कि, महापुरुषों द्वारा प्रवर्तित सभी सच्चे धर्म एक हैं सभी का लक्ष्य एक है, प्राण एक है, केवल देश और काल के भेद से आकार भिन्न-भिन्न हैं, धर्म के भीतर जब संकीर्णता प्रवेश पा जाती है, और मनुष्य के बीच विच्छेद और द्वन्द उत्पन्न हो जाता है, तब समझना चाहिए कि धर्म के वेश में अधर्म जीवन में प्रवेश कर रहा है और जीवन को घोरतर अनर्थ के मार्ग पर चला रहा है । सनातन धर्म मानकर चलने से इस भय से अव्याहति मिल जाती है एवं छिलका फेंक कर सार को चुन लेने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है ।

देशकालावस्थानुयायी आचार व्यवहार

प्राण हीन देह को सत्य मानकर निष्ठा के साथ आलिंगन किये रहने की चेष्टा करने से जिस प्रकार मृत्यु का ही आलिंगन करना होगा, उसी प्रकार देह प्राण का आश्रय लेकर जीवन पथ पर अग्रसर होने की चेष्टा भी व्यर्थ कल्पना ही सिद्ध होगी। देह के भीतर से ही प्राण अपने को प्रकाश करता है और उपलब्धि गोचर होता है। सनातन धर्म विशेष देश काल और अवस्था में मानव समुदाय के रूचि प्रकृति और शक्ति के परिवर्तन के साथ -साथ विशेष-विशेष देह धारण करता है, और विशेष विशेष वेश भूषा से भूषित होकर जगत में अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखता है। इसी उद्देश्य से भगवद्विधान से शक्तिशाली महापुरुषों का आविर्भाव होता है, एवं उनके जीवन और उपदेश का अवलम्बन कर देश कालावस्थोपयोगी मतवाद, साधनपन्थ और रीतिनीतियों का प्रवर्तन होता रहता है। यही है युगधर्म। युगधर्म के सम्बन्ध में सम्पूर्ण रूप से निरपेक्ष होकर सनातन धर्म को मानकर चलना तथा परमार्थ के पथ पर अग्रसर होना सम्भव नहीं। जो साधक जिस देश में, जिस काल में, जैसी पारिपार्श्विक अवस्था के बीच और जैसी रूचि प्रकृति और शक्ति लेकर जन्म ग्रहण करता है, एवं जैसी शिक्षा दीक्षा का सुयोग पाता है, उसके लिए तदनुरूप सनातन धर्मानुगत विशेष मार्ग का अवलम्बन करना ही अधिक कल्याणप्रद और अनायास साध्य होता है। इसी कारण तत्वदर्शी ऋषि मुनि और आचार्यगणों ने सनातन धर्म की उद्देश्य सिद्धि का ही मन में रखकर उसी के अगरूप में विभिन्न देशों और विभिन्न कालों में विभिन्न अधिकारियों के लिए विभिन्न प्रकार के साधन भजन और रीतिनीतियों की व्यवस्था की है। इन सबके तात्पर्य को विचार द्वारा हृदयंगम करके उसी के अनुसार अपने धर्मजीवन को नियन्त्रित करना आवश्यक होता है। योगिराज गम्भीरनाथ जी भी शिष्यों को सनातन धर्म के साथ प्रचलित युगधर्म, एवं पारिवारिक सामाजिक और साम्प्रदायिक कल्याणकारी रीतिनीतिओं को मानकर चलने का उपदेश देते थे। परिवार, समाज, सम्प्रदाय आदि जीवन की परिपूर्णता साधन के लिए कल्याणकर हैं, किन्तु पारिवारिक सामाजिक और साम्प्रदायिक संकीर्णता, आसक्ति और तत्प्रसूत हिंसा द्वेष कलहादि मनुष्यत्व विकास के भीषण परिपन्थी हैं।

देवता भक्ति

सनातन धर्मानुवर्तन के उपदेश के साथ साथ योगिराज जी देवद्विजों पर भक्ति करने का उपदेश देते थे। भगवान् के असंख्य विभूतिस्वरूप उनके विशेष गुण लीला शक्ति और ऐश्वर्य के घनीभूत विग्रह स्वरूप-देव देवी समूह के प्रति श्रद्धाभक्ति रखना और उनकी विधिवत् पूजार्चना करना हिन्दू साधना का एक गौरवोज्ज्वल अंग है। अनन्त गुण, अनन्त शक्ति, अनन्त ऐश्वर्य, और अनन्त भावों के अप्रमेय आधार, अवाङ्मनसगोचर भगवान् के परिपूर्ण स्वरूप की धारणा करना अविशुद्ध बुद्धि साधक के लिए सम्भव नहीं। मुख से अनन्तत्वव्यञ्जक अनेक प्रकार के शब्दों को बोलने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाने से ही अनन्त की धारणा नहीं होती। कभी तो सीमा विहीन आकाश के सामान एक विशाल जड़ पदार्थ की धारणा होती है, या कभी सब धारणा योग्य पदार्थों से बृहत्तर एक विशेष पदार्थ की कल्पना करने के प्रयत्न में धारणा शक्ति ही कुण्ठित हो जाती है। ऐसी अवस्था में उनको हृदय की श्रद्धाभक्ति और प्रेम अर्पण करना, उनके निकट प्राणों की वेदना सरलता के साथ निवेदन करना, उनको अपना निजजन तथा विपत्ति काल का सहायक मानना, एवं उनके समक्ष आत्मसमर्पण करके सान्त्वना और निश्चिन्तता के आनन्द का अनुभव करना, साधारण मानव चित्त के लिए अस्वाभाविक हो जाता है। सुतरां ऐसे अज्ञेय वस्तु का अवलम्बन करके आध्यात्मिक जीवन का विकास साधन भी अधिकांश मनुष्यों के लिए सम्भव नहीं होता करुणानिधि भगवान् अविकसित बुद्धि मनुष्यों के प्रति अपनी अहैतुकी करुणा से विगलित होकर विशेष विशेष शक्ति ऐश्वर्य और गुण का अवलम्बन पूर्वक अपनी अनन्त अखण्ड सत्ता को विविध खण्ड सत्ताओं के रूप में प्रकट करके मनुष्य बुद्धि के धारणागोचर हो जाते हैं और उनके चित्त को आकर्षण करते हैं, एवं साधारण मनुष्य भी उन सब विचित्र गुण ऐश्वर्य शक्ति भावमयी मूर्ति के आश्रय से भक्ति, श्रद्धा, ज्ञान, सदिच्छा आदि सद्वृत्तियों का उत्कर्ष साधन करके क्रमशः भगवान् के पूर्ण स्वरूप की धारणा करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। भगवान् के ये सब विशेष प्रकाश ही देव,

देवी नाम से आख्यात हैं । ये देव, देवियाँ भगवान् और मनुष्य के बीच में सेतु स्वरूप होते हैं । मनुष्यादि जीवगण भी भगवच्छक्ति के ही विकास हैं । जिस प्रकार मनुष्यादि जीवगणों की व्यावहारिक सत्ता होती है, उसी प्रकार देव, देवियों की सत्ता भी व्यावहारिक होती है । भगवान् का इस प्रकार देव, देवी रूपों में आत्मप्रकाश भावराज्य में नित्य वर्तमान रहता है, एवं व्यावहारिक जगत् का अंशीभूत होता है । उनका दर्शन-स्पर्शन-श्रवणादि सम्भव होता है, तथा ऐसे दर्शन-स्पर्शनादि व्यापार व्यावहारिक दर्शन-स्पर्शनादि की अपेक्षा अधिक मिथ्या कल्पना नहीं हैं । भगवान् ही साधकों के चित्तविकास के अनुसार उन रूपों में दर्शन स्पर्शनादि गोचर होते रहते हैं । किन्तु उससे भगवत्स्वरूप साक्षात्कार जनित कृतार्थता नहीं प्राप्त होती । कहने की आवश्यकता नहीं कि, मनुष्यगण मृत्पाषाणादि जड़ पदार्थों द्वारा जिन स्थूल मूर्त्तियों का निर्माण करके पूजा करता है, वे मूर्तियाँ ही देवता नहीं हैं; वे हैं प्रतिमाएँ, देव शरीर के आभास मात्र, प्रतिमा शब्द ही इसी बात का निर्देशन करता है । प्रतिमा जड़ है, प्रतिमेय चेतन; प्रतिमा अवलम्बन है, देवता अवलम्ब्य । गुणैश्वर्यशक्तिभावमयतनु मानसराज्य विहारी नित्यप्रकाशशील देवता समूह का एक-एक आभास स्थूल चक्षुगोचर करने के उद्देश्य से उनके गुण, ऐश्वर्य, शक्ति और भाव के अवलम्बन से भिन्न-भिन्न प्रतिमाओं की कल्पना होती है, एवं उन प्रतिमाओं के अवलम्बन से आभास्य चिन्मय देवता का धारणा-ध्यान, पूजाराधनादि होता है । सुकृती साधक प्रतिमा के मध्य प्रकटित देवता का साक्षात्कार प्राप्त करते हैं ।

प्रामाणिक शास्त्रों में जिन देव-देवियों का विषय वर्णित है, तत्वदर्शी आचार्यगण जिन देवताओं की महिमा का कीर्तन करते हैं, जनश्रुति के अनुसार प्रसिद्ध साधकगण जिन देव विग्रहों का अवलम्बन करके भगवदाराधन कर सिद्धि प्राप्त किये हैं, अनेक लोग जिन देवताओं के उद्देश्य से पूजार्चना, भोगरागादि प्रदान कर आध्यात्मिक और सांसारिक कल्याण प्राप्त करते हैं, उन सब देवताओं के प्रति श्रद्धा रखना और विचारपूर्वक भगवदभिन्न समझ कर उनका यथाविधि अर्चन-वन्दन आदि करना सनातन धर्म का ही अनुशासन है । चरम ज्ञान में

प्रतिष्ठित जीवन्मुक्त महापुरुषगण भी लोक-शिक्षा के लिये देव-देवियों की सेवा-पूजा करते हैं।

द्विजभक्ति

योगिराज जी कहते थे कि द्विज-भक्ति हिन्दू धर्म की एक विशेषता है और शिष्यों को ध्यान इस ओर आकृष्ट करते थे, एवं स्वयं भी साधु-सेवा के साथ-साथ ब्राह्मण सेवा का दृष्टान्त दिखाकर समाज को शिक्षा देते थे। हिन्दू धर्म ब्राह्मण-भक्ति द्वारा इसी बात का निर्देश करता है कि बाहरी सम्पत्ति, राजकीय क्षमता, लौकिक प्रतिपत्ति और कुटिल विषय-बुद्धि की अपेक्षा धर्म जीवन और धर्मतत्वज्ञान कई गुना श्रेष्ठ और सम्मान योग्य होता है। कर्म और भोग के जगत् में कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो, यदि व ब्राह्मण को ब्राह्मण के नाते और साधुओं को साधु के नाते ही सम्मान करता है, तो इससे उसका सम्मान विन्दुमात्र भी कम नहीं होता, अपितु ख्याति प्रतिपत्तिविहीन ब्राह्मण और साधुओं के प्रति अकृत्रिम श्रद्धा-प्रदर्शन द्वारा यही सूचित होता है कि, वह कर्म और भोग के जगत् को ही सर्वस्व मानकर मोह निमग्न नहीं हुआ है, उसको इस बात का बोध है कि धर्म के लिये भोग त्याग और दारिद्रयवरण की शक्ति ऐहिक अभ्युदय लाभ की अपेक्षा श्रेष्ठतर है तथा उसकी शक्ति और समय का अधिकांश सांसारिक कार्यों में लगने पर भी उसके अन्तर में मनुष्यत्व का आदर्श मलिन नहीं हुआ है। हिन्दू सभ्यता प्रतिष्ठाता शास्त्रप्रणेता ऋषि-मुनियों के प्रति आन्तरिक कृतज्ञता ज्ञापन के लिये भी तद्वंशोद्भव ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धायुक्त होना संगत ही है। जो लोग सब प्रकार की सांसारिक भोग सम्पत्तियों का स्वेच्छा से त्याग करके शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपस्या में निरत रहकर विश्वविधान और मानव प्राण के अन्तर्निहित निगूढ़ रहस्य के अनुसंधान में प्रवृत्त थे, एवं विश्व के चरमतत्व और जीवन के चरम लक्ष्य को भित्ति बनाकर एक महान उदार धर्मनिष्ठ मनुष्य समाज को प्रतिष्ठित करने के प्रयासी थे, उन समाज चूड़ामणि सार्थकनामा ब्राह्मणों की साधना स्मरण करके और उनके आदर्श द्वारा अनुप्राणित होकर उनके अयोग्य वंशधरों को भी श्रद्धा और सेवा द्वारा पूर्वपुरुष प्रदर्शित मार्ग पर चलने में सहायता करने से समाज का यथार्थ

कल्याण होता है। ब्राह्मणोचित लक्षणवर्जित ब्राह्मणवंशोदभूत हतभाग्यों को भी तुच्छ न समझ कर, उनके प्रति व्यवहार में उनके वंशप्रतिष्ठाओं के गौरवमण्डित जीवन की बातें स्मरण कराकर स्वधर्मनिष्ठ होने के लिये प्रोत्साहित करना समग्र समाज के लिये कल्याणप्रद है। हिन्दू समाज में ब्राह्मणगण जिस मात्रा में यथार्थ ब्राह्मण नाम की योग्यता अर्जन करेंगे, जिस मात्रा में वे शास्त्रचर्चा और धर्मतत्वानुशीलन में तत्पर रहकर अपना जीवनगठन करते हुए समाज के शिक्षित, अशिक्षित सब श्रेणी को ज्ञान और धर्म की ज्योति से आलोकित, शक्ति समन्वित एवं उन्नत और उदार भूमि पर प्रतिष्ठित कर सकेंगे, जिस परिमाण में वे धनों और क्षमताशालियों के द्वार पर नजाकर अपनी ब्राह्मणोचित स्वाधीनता को अक्षुण्य रखने में एवं आचरण और उपदेश द्वारा सब श्रेणी को स्वाधीन, स्वधर्मपरायण और परस्पर में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति सम्पन्न बनाने में प्रयत्नशील होंगे, उसी परिमाण में हिन्दू समाज अपने वैशिष्टय की रक्षा करके विश्व समाज में अपने को सुप्रतिष्ठित करने में और विश्व का कल्याण साधन करने में समर्थ होगा। ब्राह्मण की मर्यादा का लंघन करने से हिन्दू समाज प्रतिष्ठान के प्रति विद्रोह ही करना होगा एवं उससे समाज के अकल्याण की ही सम्भावना होती है। ब्राह्मणगण को श्रद्धा करना एवं उनको वर्तमान अध:पतन से उद्धृत करने की चेष्टा करना समाज के कल्याण के लिये नितान्त आवश्यक है, एवं समाज हितैषी व्यक्तिमात्र का ही इस दिशा में ध्यान देना कर्त्तव्य है। नित्य-निरन्तर ब्रह्मभाव समाहित सर्वात्मज्ञान प्रतिष्ठ योगिराज गम्भीरनाथ स्वयं भृगुपद चिन्हधारी ब्रह्मण्यदेव विष्णु के समान हिन्दू समाज के कल्याण के उद्देश्य से मलिन देह, मलिन चित्त ब्राह्मणों को आग्रह के साथ सम्मान और सेवा करके शिष्य और भक्तों को ब्रह्मण्य होने की शिक्षा देते थे। देव सेवा, साधु सेवा और ब्राह्मण सेवा- इन तीनों की ओर उनकी दृष्टि सजग रहती थी एवं इन तीनों को ही वे हिन्दू धर्म का विशेष अंग कहकर उपदेश देते थे।

दान

योगिराज जी दान को आश्रमी मात्र के लए विशेषत: गृहस्था-श्रमियों के लिये धर्म साधन का एक प्रधान अंग बतलाते थे एवं उनकी निज दानशीलता

यद्यपि सर्वथा निराडम्बर थी तथापि वह क्रमशः इतनी प्रसिद्ध हो गई थी कि आज भी साधु समाज में तथा गोरखपुर के निकटवर्ती दीन-दुःखियों में तत्सम्बन्धी अनेक आख्यान सुने जाते हैं। उनके अनेक गृहस्थ शिष्य निवेदन करते थे कि, अर्थोपार्जन और वैषयिक कर्म सम्पादन के उपलक्ष्य में हमें जिन अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है एवं जो कार्य करने पड़ते हैं, उनमें अनेक बार सत्य की रक्षा करना और निष्कपट व्यवहार करना कठिन हो जाता है एवं कभी-कीी लेगों के अनिष्ट का भी कारण बनना पड़ता है; इसका प्रतिकार क्या है? योगिराज जी उत्तर देते थे कि, धर्म, लाभ और महत्कार्य सम्पादन के लक्ष्य रखकर ही अर्थोपार्जनादि कर्म किया जाता है; महदुद्देश्य से कार्य में प्रवृत्त होकर यदि कभी अवस्थाओं के दबाव से बाध्य होकर एक आध मिथ्या या कपटता को प्रश्रय देना पड़े, किंवा दो एक व्यक्तियों के सामान्य थोड़ी क्षति का भी कारण बनना पड़ें, तो सांसारिक जीवन में उससे विशेष दोष नहीं होता; चौदह आना सत्य और परोपकार ठीक रहने पर, उनके साथ यदि दो आना मिथ्या और अनिष्टाचरण भी मिश्रित हो, तो गार्हस्थ्य जीवन में उसे स्वीकार ही करना पड़ेगा। गृहस्थमात्र को ही यह करना पड़ता है, किसी-किसी को कम, किसी-किसी को अधिक। किन्तु इसके लिये प्रायश्चित है। गृहस्थ मात्र को ही अपनी आय का कुछ अंश दान करना चाहिये। दान से ज्ञात और अज्ञात अनेक पाप धुल जाते हैं।

दान से केवल कृत पापों का ही प्रायश्चित होता है, ऐसी बात नहीं है, कलि में दान ही महायज्ञ है। जो व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार जितना ही दान कर सकता है, उसे उतना ही यज्ञ फल प्राप्त होता है। इससे देह, मन शुद्ध होता है, चित्त उदार और सहानुभूति सम्पन्न होता है। अर्थासक्ति और भोगासक्ति आध्यात्मिक जीवन के प्रधान शत्रु हैं, ये ही चित्त को मलिन, संकुचित, संसार बद्ध और हिंसाद्वेषमय कर देते हैं, दान के अभ्यास द्वारा इन दोनों महाशत्रुओं का पराभव होता है। इसके फलस्वरूप चित्त प्रसन्न और स्वच्छ होकर जपध्यानतत्व विचारादि अन्तरंग साधन के विशेष उपयोगी हो जाता है। दान में कुण्ठित गृहस्थ के लिये आध्यात्मिक जीवन में उन्नति प्राप्त

करना भी असम्भव होता है और व्यावहारिक जीवन में महत्त्व प्राप्त करना भी
असम्भव होता है । जिसकी जितनी शक्ति होती है; उससे उसी परिमाण में दान
प्रत्याशित होता है ।

केवल अर्थ दान ही दान है, यह बात नहीं है । अन्नदान, वस्त्रदान,
भूमिदान आदि भी अर्थ दान के ही रूपान्तर हैं । जिस आकार में दान करने
में दाता की सुविधा हो, एवं ग्रहीता के अभावमोचन में सहायता हो, उसी रूप
में दान करना संगत है । क्षुधार्त को अन्नदान, तृष्णार्त को जलदान, शीतार्त को
वस्त्रदान, गृहहीन को गृहदान, आश्रयहीन को आश्रयदान- इस प्रकार विचार
पूर्वक साध्यानुसार दान करना कर्त्तव्य है । इसके अतिरिक्त जिनके पास विद्या
है, वे विद्यार्थियों को विद्यादान करें, जिन्हें धर्मोपदेश दान की शक्ति है, वे
धर्मपिपासुओं को धर्मोपदेश दान करें, जिनके शारीरिक बल हैं, वे दुर्बल को
सबल के अत्याचार से आश्रयदान के लिए सर्वदा प्रस्तुत रहें, जो लोग औषध
दे सकते हैं, वे दरिद्र रोगक्लिष्टों को औषधदान करने में प्रयत्नशील रहें । ये
सभी दान हैं । जो जो कुछ दान कर सकता हो, उसे वही दान करने के लिये
उत्सुक रहना चाहिए, एवं उसी से ही उसे कृतार्थता प्राप्त होगी । दान से ग्रहीता
का जितना अभावमोचन होता है उसकी अपेक्षा दाता का उपकार कहीं अधिक
होता है । ग्रहीता का उपकार क्षणिक और परिमित होता है, दाता का उपकार
स्थायी और अपरिमित होता है । सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर दाता के प्रति
ग्रहीता को जितना कृतज्ञ होने का कारण है उसकी अपेक्षा गृहीता के प्रति दाता
को कृतज्ञ होने का कारण कहीं अधिक है ।

किसको किस प्रकार दान करने से दान का सम्यक् फल प्राप्त होता
है ? इस सम्बन्ध में योगिराज जी का यह निर्देश था कि, साधु और दीन
दुःखीगण ही दान के सर्वापेक्षा अधिक उपयुक्त पात्र हैं । अपने पिता माता स्त्री
पुत्र कन्या आदि का भरण पोषण जिस प्रकार गृहस्थ-मात्र ही का अवश्य
कर्त्तव्य है,. त्यागी साधु और सहाय सम्बलहीन दीन दुःखियों का भरण-पोषण
भी गृहस्थों का वैसा ही अवश्य कर्त्तव्य है । अवश्य कर्त्तव्य समझकर ही उन
लोगों को साध्यानुसार दान करना चाहिए । ऐसा ही दान सात्विक दान होता

है जिस दान में आडम्बर रहता है, प्रत्युपकार की आशा रहती है, या और कोई प्रयोजन रहता है वह सात्विक नहीं होता, और उससे दान का सम्यक् फल भी नहीं प्राप्त होता। बिना आडम्बर, दैनन्दिन कर्त्तव्य का अपरिहार्य अङ्ग समझकर साधु दीनदु:खियों की सेवा करने से, उसमें प्रत्युपकार की आशा नहीं रहती, कोई आकांक्षा नहीं रहती, और न कोई दूसरा मतलब सिद्ध करने का सुयोग ही रहता है। सुतरां दान सार्थक होता है। दान के प्रतिदान रूप में ग्रहीता से या दूसरे किसी से कुछ आकांक्षा करने से ही दानजनित आध्यात्मिक लाभ की हानि होती है।

दान किस प्रकार करना चाहिये, इस विषय में ऐसा उपदेश है। प्रथमत: दान प्रेम के साथ करना चाहिए। जिसको दान दिया जाय उसके अभाव की अनुभूति अपने हृदय में इस प्रकार करने की चेष्टा करनी चाहिए कि, ऐसा बोध न हो कि दान द्वारा किसी दूसरे का अभाव मोचन हो रहा है, यही जान पड़े कि अपने अभाव की ही पूर्ति की जा रही है। इससे दान में एक अपूर्व आनन्द का सम्भोग प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रेम के साथ दान करने पर ऐसा अभिमान नहीं उत्पन्न होगा कि मैं कुछ त्याग कर रहा हूँ या कोई असाधारण कार्य करता हूँ, किंवा इस बात का कोई आन्तरिक कष्ट भी नहीं बोध होगा कि, मैं अपनी भोज्य वस्तु निकाल कर दूसरे को दे रहा हूँ। अभिमान एवं क्लेशबोध ये दो ही दान के गौरव को नष्ट कर देते हैं, एवं चित्त को फैलने नहीं देते। दान में आनन्द बोध होना चाहिए और यह अभिमान नहीं रहना चाहिए कि मैं दूसरे के ऊपर अनुग्रह करता हूँ। प्रेम के साथ दान करने का जितना ही अभ्यास बढ़ेगा उतना ही अभिमान और क्लेशबोध मिटता जायेगा, एवं क्रमश: पारिवारिक कर्त्तव्य सम्पादन के समान ही दान भी स्वभाव बन जायेगा। अपना परिवार ही मानो तब फैलकर रक्तमांस के सम्बन्ध को अतिक्रम करके बृहदाकार धारण कर लेगा, एवं सांसारिक संकीर्णता से दाता को मुक्त कर देगा।

द्वितीयत: दान के समय सर्वदा स्मरण रखने की चेष्टा करनी चाहिए, कि साक्षात् भगवान् की सेवा कर रहा हूँ। कोई स्थान शून्य तो है नहीं, सर्वत्र

भगवान् है। सबकी अन्तरात्मा रूप में भगवान् विराजमान् हैं। विचारपूर्वक यह धारणा करना चाहिये एवं सुदृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि, मेरे परमाराध्य भुक्ति मुक्ति प्रदाता अहैतुक कृपासिन्धु भगवान्, मेरे ऊपर अयाचित करूणा से आल्पुत होकर मेरे आध्यात्मिक जीवन के भीषण व्याधिस्वरूप अर्थासक्ति, भोगासक्ति, संकीर्णता, स्वार्थपरता, शुष्कता आदि के निवारण, एवं आध्यात्मिक जीवन के अमृत स्वरूप प्रेम, भक्ति, दया, उदारता, सरसता आदि के उद्‌बोधन और विकास साधन द्वारा सम्यक् विशुद्धि सम्पादन पूर्वक मुझको अपने ही परमानन्दमय गोद में आकर्षण करने के लिये स्थूल देह धारण करके पिता-माता, पुत्र-कलत्र, साधु-भिक्षुक, दीन-दरिद्र आदि नाना प्रकार के रूपों में मेरे समक्ष उपस्थित हो रहे हैं, एवं मेरी सेवा ग्रहण करके मुझे कृतार्थ कर रहे हैं। जो लोग मेरा दान लेने के लिये उत्सुक हैं, उनमें से कोई भी मुझसे छोटा नहीं है, कोई मेरे अनुग्रह का भिखारी नहीं है, किसी का दुःखमोचन मेरे दान पर निर्भर नहीं करता, उनमें से प्रत्येक ही मेरे करूणामय आराध्य देवता का विग्रह है, वे सभी मेरे पूज्य हैं, वे मेरे ऊपर अनुग्रह करके ही मेरा दान स्वीकार करने के लिये उपस्थित हुए हैं, उनको दान करने से मेरी ही दुःख विमुक्ति की सम्भावना है।

तृतीयतः जो वस्तु दिया जाय उसमें भी ममत्व बोध रखना उचित नहीं। अन्न, वस्त्र, भूमि, गृह, अर्थ, विद्या, धर्म, शारीरिक बल, मानसिक शक्ति आदि जो कुछ मेरा जान पड़ता है, वह सब ही भगवान् का दिया हुआ है। भगवान् की दी हुई वस्तु का ही हम भोग करते हैं एवं उनकी वस्तु फिर उन्हीं को निवेदन कर देता हूँ। इसमें ममता और अभिमान का अवसर ही कहाँ है?

इस प्रकार भगवत्सेवा बुद्धि से भगवत्प्रीतिकाम होकर एवं किसी प्रकार की फलाभिसन्धि न रखकर भगवत्प्रदत्त उपकरण द्वारा भगवद्विग्रह स्वरूप साधु, दीन-दुःखी आदि को दान करने से दान परिपूर्ण और सर्वांग सुन्दर हो जाता है, एवं दाता को सर्वविधि पाप और बन्धन से मुक्त करके भगवद्भावभावित कर देता है।

सत्य परायणता

सत्यप्रतिष्ठ बाबा गम्भीरनाथ जी शिष्यों को विचार में, वाणी में और कार्य में यथासम्भव सत्य का अनुसरण करने का उपदेश देते थे, एवं कपटाचरण करने का निषेध करते थे। सत्यानुसरण ही साधना की मूलभित्ति है। विचार से जिसको सत्य निर्धारित किया जाय, उसी के अनुसार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि द्वारा जीवन के सब प्रकार के कार्यों का परिचालन करना यथार्थ मनुष्योचित कल्याण प्राप्ति के निमित्त एकान्त आवश्यक है। सत्य के अनुसरण में यदि सामयिक क्षति भी स्वीकार करने पड़े अर्थात् अर्थनाश, मनस्ताप, दैहिक क्लेश, यशोहानि, लोकनिन्दा, पारिवारिक, सामाजिक और राजकीय निर्यातन आदि भी सहन करना पड़े- तो उसका भी वरण कर लेना उचित है। विश्वास रखना चाहिये कि सत्य स्वरूप भगवान् के मंगलमय विधान के परिणाम में कल्याण अवश्यम्भावी है। विचार में जो सत्यविरोधी निर्धारित हो, उसको भय या लोभ में पड़कर स्वीकार कर लेना उचित नहीं; उससे कुछ क्षणिक सुख-सुविधा भले ही मिल जाय, परन्तु परिणाम में अमंगल सुनिश्चित है। किसी आदर्श के प्रति हृदय में कितना अनुराग उत्पन्न हुआ है, इस बात का निर्णय, उसके लिये होने वाले त्याग स्वीकार की मात्रा देखकर ही किया जाता है। फलाफल निरपेक्ष होकर, भय या लोभ द्वारा चालित न होकर, जो व्यक्ति प्रसन्नचित्त से सत्य का अवलम्बन कर जीवन के सब विभागों को नियन्त्रित कर सकता है, एवं उसके लिये आवश्यकता पड़ने पर सर्वस्व त्याग करने में और सब प्रकार के दुःख-कष्टों को वरण कर लेने में संकोच नहीं करता, समझना चाहिये कि, उसी के हृदय में सत्य के प्रति यथार्थ प्रेम उत्पन्न हुआ है। सत्य के प्रति प्रेम जिस परिमाण में उत्पन्न होता है, जीवन उसी परिमाण में सत्यमय हो जाता है, एवं सत्यस्वरूप भगवान् उसी परिमाण में आत्म प्रकाश करके साधक को कृतार्थ कर देते हैं। सुख जीवन का उद्देश्य नहीं है, जीवन की सार्थकता परिमापक भी नहीं है। काय-मन वाणी से सत्यनिष्ठ होकर, समग्र जीवन की एकता सम्पादन करके, सत्यस्वरूपपरमानन्दनिलय भगवान् के साथ मिल जाना ही जीवन का उद्देश्य है, एवं जीवन जिस मात्रा में उस दिशा में अग्रसर होता है

उसी मात्रा में वह सार्थक होता है ।

परनिन्दा त्याग

परनिन्दा त्याग पर योगिराज जी विशेष जोर देते थे, एवं इसे धर्म जीवन का एक स्तम्भ बतलाते थे । विशेषत: गृहस्थगण सांसारिक अवस्थाओं के दबाव में पड़कर भय और प्रलोभन के प्राबल्य से अनेक बार अनिच्छा रहने पर भी मिथ्या और कपटता को प्रश्रय देने के लिये बाध्य हो जाते हैं, एवं दूसरे विधिनिषेध भी विधिवत् मानकर चलने में असमर्थ हो जाते हैं, किन्तु साधारण प्रयत्न से ही परनिन्दा वर्जन करके चलना सम्भव है । किसी भी व्यक्ति की सांसारिक उन्नति या अन्न वस्त्र की व्यवस्था परनिन्दा पर निर्भर नहीं होतीं, न किसी प्रकार के भय या प्रलोभन ही मनुष्य को परनिन्दा करने के लिये बाध्य करते हैं । नाना प्रकार के प्रतिकूल अवस्थाओं के बीच में रहकर भी, साधक यदि अपने जीवन पर एक निगाह रक्खे एवं अपनी वाणी को थोड़ा संयत रखने का प्रयत्न करता रहे, तो परनिन्दा रूप पाप से अपने को बचा सकता है । परनिन्दा तो असंयत रसना की विलासिता मात्र है । किसी प्रकार की स्वार्थ हानि और क्लेशसहन न करके संसारासक्त मनुष्यगण भी इस विलासिता का परित्याग कर सकते हैं, तथापि इस विलासिता का बर्जन करने से ही मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में बहुत आगे बढ़ सकता है ।

एक शिष्य ने दीक्षा प्राप्ति के बाद भक्ति और कृतज्ञता से भर कर गुरुदेव से निवेदन किया कि, मैंने सुना है कि दीक्षा लेने के समय कुछ त्याग किया जाता है, तो दया करके इस बात का आदेश दीजिये कि मैं किस वस्तु का त्याग करूँ ।' प्रसिद्ध तीर्थों में किसी प्रिय भोग्य वस्तु को देवता के नाम पर उत्सर्ग करके उसके भोग से सर्वदा के लिए विरत हो जाने की प्रथा हिन्दू समाज में प्रचलित है । उसी संस्कार के वशवर्ती होकर परम तीर्थ गुरु धाम में परम देवता गुरु के निकट किसी प्रिय भोग्य वस्तु का सम्पूर्ण जीवन के लिए त्याग कर देने का संकल्प शिष्य के भक्ति द्रवीभूत चित्त में जागृत हो गया । नितान्त अप्रत्याशित रूप में गुरुदेव ने उत्तर दिया, 'सको, तो पर निन्दा छोड़

दो।' किसी एक खाद्य पदार्थ का त्याग करने या न करने से आध्यात्मिक जीवन में कोई विशेष क्षति वृद्धि नहीं होती। परनिन्दा त्याग कर सकने पर चित्त की मलीनता नष्ट हो जाती है, कुचिन्ता का ह्रास होता है, दोषदर्शिता निवृत्त हो जाती है, उदारता और मैत्रीभाव की वृद्धि होती है, एवं पराशान्ति का मार्ग उन्मुक्त हो जाता है।

इस विषय में किसी किसी शिष्य को उन्होंने और भी स्पष्ट रूप से कारण प्रदर्शन पूर्वक उपदेश दिया था। जिस व्यक्ति के चरित्र में जिस प्रकार का दोष विद्यमान नहीं रहता, जो व्यक्ति जिस प्रकार का अन्यायाचरण नहीं करता, उस व्यक्ति के ऊपर उसका आरोप करने से एवं उसके सम्बन्ध में लोगों के समक्ष वैसे दोषों का मिथ्या कीर्तन करने से ही परनिन्दा होती है, दुष्ट व्यक्ति का स्वरूप वर्णन करने से परनिन्दा नहीं होती, ऐसा सोचना ठीक नहीं; ऐसी धारणा से कलुषित चित्त का ही-परिचय मिलता है किसी के सम्वन्ध में कोई दोष सत्य है यह निश्चित रूप से जानने पर भी उसको दूसरे किसी के निकट अपरिहार्य प्रयोजन के बिना वर्णन करना किंवा अपने मन में स्मरण या आलोचना करना उचित नहीं। इसमें भी परनिन्दा होती है। वाणी तथा चिन्तन दोनों में ही दोष की आलोचना का त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिये। जिस विषय की जितनी ही आलोचना की जायेगी, उसके संस्कार उतने ही गाढ़ रूप से अन्तःकरण पर अंकित हो जायेगें। दूसरों के दोषों की आलोचना करते करते; उन सब दोषों के संस्कार अपने चित्त मे क्रमशः उद्‌बुद्ध और प्रबल होकर दुष्प्रवृत्तिरूप में परिणत हो जाते हैं।

प्रत्येक मनुष्य के ही चित्त क्षेत्र में दोष के बीज वर्तमान रहते हैं, परदोषालोचना के जल सिंचन से वे बीज परिपुष्ट होकर अंकुरित होते हैं, एवं क्रमशः वृक्षरूप में परिणत होकर कंटकाकीर्ण शाखा-प्रशाखा विस्तार करते करते समस्त चित्त को समाछन्न कर लेते हैं। शास्त्रों में भी यह बात आती है कि निन्दित व्यक्ति की दोषराशि अलक्षित रूप से निन्दक के हृदय में संक्रामित हो जाती है। दूसरे की संक्रामक शारीरिक व्याधि का शरीर द्वारा स्पर्श करने से जिस प्रकार स्पर्शकर्त्ता के शरीर में उसके संक्रामित होने की सम्भावना

रहती है, दूसरे के पापरूप मानसिक व्याधि का भी उसी प्रकार वाणी अथवा चिन्तन द्वारा स्पर्श करने से उस स्पर्शकर्त्ता के अन्तःकरण में उसके संक्रामित होने की विशेष सम्भावना रहती है । उन सब आलोचित दोषों के संक्रमण के साथ स्वभावतः ही और अनेक प्रकार के दोषों का उद्भव होता है । जिस व्यक्ति के दोष की आलोचना की जाती है, उसके विरूद्ध घृणा, विद्वेष, द्रोह आदि बुरे भाव अन्तर में जागृत हो जाते हैं, तथा उनके साथ तुलना में अपना श्रेष्ठत्वाभिमान भी मस्तक ऊँचा करता है । ये सब असद्वृत्तियाँ जितनी ही खाद्य पाती हैं उतना ही पुष्ट होती हैं और सर्वनाश का कारण बनती हैं । इस प्रकार परनिन्दा परदोषालोचना सब प्रकार के दोषों का प्रस्रवण बन जाती है । नैतिक और आध्यात्मिक जीवन के पहलू से विचार करने पर, परनिन्दा से निन्दक का जितना अनिष्ट होता है, निन्दित व्यक्ति का उसके शतांश का एकांश भी नहीं होता । यदि कोई व्यक्ति तुम्हारें या अन्य किसी के निन्दा की चर्चा करें, तो उसके प्रति भी क्रोध या प्रतिहिंसा का भाव रखना उचित नहीं, वरं दया और क्षमा का भाव ही रखना उचित होगा, क्योंकि वह व्यक्ति अज्ञानता वश अपने ही अकल्याण का साधन कर रहा है दोषों के अनुशीलन द्वारा अपने ही अधोगति का मार्ग साफ कर रहा है और उन्नति के मार्ग को कंटकाकीर्ण बना रहा है । और यदि कोई तुम्हारे यथार्थ दोष को खोज निकाले और लोगों के सामने प्रकाश करके तुम्हें लज्जित करें, तो उसके प्रति तुम्हें कृतज्ञ होना चाहिये, क्योंकि वह अपना अनिष्ट करके भी तुम्हें सावधान कर देता है, एवं तुम्हें दोष मुक्त होने के लिये प्रेरणा प्रदान करता है ।

इस प्रसंग में योगिराजजी कभी कभी कहते थे कि, यदि कोई नितान्त दुर्नीतिपरायण एवं यथेच्छाचारी भी हो, तथापि उससे ज्ञानी व्यक्ति के चित्त में किसी प्रकार का घृणा विद्वेष या विकार उत्पन्न नहीं होता, सुतरां उसके मुख से कोई निन्दा के शब्द नहीं निकलते । ज्ञानी जानता है कि पूर्व जन्मों के कर्म फल के अनुसार ही मनुष्य के चित्त में किसी किसी जाति के शुभ या अशुभ संस्कारों का प्रावल्य हो जाता है, एवं उसके अनुसार ही उसकी प्रकृति बनती है । उस प्रकृति के प्रभाव से वाध्य होकर मनुष्य विशेष कार्यों में प्रवृत्त होता

है । जो व्यक्ति अशुभ संस्कारों का दास है और इसीलिये गर्हित आचरण में प्रवृत्त होता है, वह वेचारा अभागा है और उस पर दया करना उचित है, उसकी मंगल कामना और मंगल चेष्टा करना उचित है, उसके पापक्षत देह और मन पर निन्दा घृणा या क्रोध का अस्त्र चलाना नितान्त निष्ठुरता का कार्य होगा ।

ज्ञानी व्यक्ति यह भी स्मरण रखता है कि, पापी के भी अन्तरात्मा रूप में स्वयं भगवान् विराजमान रहते हैं, एवं नित्यशुद्ध-बुद्ध मुक्त हैं ये सब पाप ताप उनको बिन्दु मात्र भी स्पर्श नहीं करते । अपरिष्कृत आवर्जनामय कंटकाकीर्ण वाह्य सौन्दर्य लेशविहीन मन्दिर में भी जिस प्रकार देवता का देवत्व नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार पाप पंकिल मानव मन्दिर में भी भगवान् कलुषित नहीं होते। सुतरां घृणा या निन्दा करोगे किसकी ? किसी को अवहेलना की दृष्टि से देखने पर भगवान् की ही अवहेलना की जाती है, अथवा उसके भीतर भगवान् की सत्ता की ही अस्वीकृति या उपेक्षा की जाती है । ज्ञानी व्यक्ति सर्वत्र भगवान् का दर्शन करके सबके निकट प्रणत होता है एवं सबकी सेवा में प्रवृत्त होता है । वह किसी को हेय या निन्दनीय नहीं समझता, सबको ही अपने लिये श्रद्धार्ह और सेव्य समझता है ।

पर धर्म श्रद्धा

वे किसी धर्म या सम्प्रदाय की निन्दा करना अत्यन्त गर्हित कार्य समझते थे । उनके मुख से प्रसंग क्रम में भी कभी किसी धर्म या सम्प्रदाय के सम्बन्ध में किसी प्रकार की विरुद्ध समालोचना बाहर निकलना सम्भव न था; उनके सम्मुख यदि किसी समय कोई उस प्रकार की इंगिति भी करें तो उसे प्रश्रय न देते थे । वे शिष्यों को सब धर्म मतों के प्रति और धर्म सम्प्रदायों के प्रति श्रद्धा का भाव रखने का एवं उनके सम्बन्ध में विशेष सम्मान के साथ आलोचना करने का उपदेश देते थे । स्वधर्म निष्ठा के साथ पर धर्म श्रद्धा का कोई विरोध नहीं है; उसे सात्विक हृदय में परधर्म के सम्बन्ध में विद्वेष का भाव रह ही नहीं सकता, किसी के धर्म में आघात करने से, किसी के प्राण में वेदना उत्पन्न करने से उसके प्रेम कोमल हृदय में व्यथा होती हैं, किसी धर्ममत या सम्प्रदाय के सम्बन्ध में विरुद्ध मत पोषण करना या असम्मान सूचक

वाक्योच्चारण करना वे अपने स्वधर्म की ही अवमानना समझते थे। आध्यात्मिकता के साथ घृणा निन्दा संकीर्णता और असहिष्णुता का चिरन्तन विरोध है जिसका आध्यात्मिक जीवन जिस मात्रा में उत्कर्ष प्राप्त करेगा, उसका हृदय उसी मात्रा में प्रशस्त और उदार होगा, उसी मात्रा में उसके श्रद्धा संयम और सहिष्णुता की वृद्धि होगी। जो लोग केवल अपने ही धर्म मत को सत्य और कल्याणप्रद समझते हैं, और सब मतों के प्रति अवज्ञा का भाव रखते हैं, जिनकी विवेचना में बाकी सब धर्म सम्प्रदाय कुपंथ गामी जान पड़ते हैं, उनका धर्माडम्बर चाहे कितना भी हो परन्तु उन्हें धर्म का यथार्थ आस्वादन प्राप्त नहीं हुआ, उनका आध्यात्मिक जीवन विकसित नहीं हुआ।

विभिन्न धर्मावलम्बी साधक गण विभिन्न पद्धति से एक अद्वितीय भगवान् की ही आराधना करते हैं, विभिन्न नाम और रूपों में उन्हीं का आवाहन करते हैं, विभिन्न भाषाओं में विभिन्न प्रणाली से उन्हीं के निकट अपने हृदय का भाव निवेदन करते हैं। भगवान् एक है, मानव हृदय भी एक है किन्तु विकास के तारतम्य से, संस्कार रुचि बुद्धि के वैचित्त्य से, देश काल और अवस्था के पार्थक्य से, मानव प्राणी की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार की होती है, एवं साथ ही साथ उनके चिर आराध्य भगवान् भी नाना नामों में नाना रूपों में, नाना उपाधियों से भूषित होकर उनको कृतार्थ करने के लिये प्रकट होते हैं। विभिन्न प्रकार की रीति, नीति, आचार व्यवहार, साधन, प्रणाली, आदि इस एक मानव प्राण का विकास करने के उद्देश्य से, एक मानव प्राण को ही निर्मल, निरावरण, अचञ्चल और अज्ञान मुक्त करके अन्त में परिपूर्ण चिद्घनानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से, विभिन्न शास्त्र और महापुरुष गण द्वारा विहित हुए हैं, सुतरां सब धर्म ही स्वरुपतः एक हैं, केवल रूप भिन्न-भिन्न हैं, वेशभूषा भिन्न-भिन्न हैं। अतएव जो लोग धर्म तत्व को समझते हैं, उनकी दृष्टि में एक धर्म के साथ दूसरे धर्म का विरोध हो नहीं सकता। प्रत्येक धर्म का विरोध अधर्म के साथ है, विभिन्न रूपों में प्रकट धर्म के साथ नहीं।

मानव चित्त की स्वाभाविक अज्ञानता और दुर्बलता के कारण काल क्रम से प्रत्येक धर्म ही के भीतर नाना प्रकार के अनावश्यक और असंगत

मतवाद और आचार व्यवहार प्रवेश पा जाते हैं । कोई भी सम्प्रदाय कुसंस्कार शून्य नहीं होता, कुसंस्कार प्रसूत सकीर्ण मत और अहितकर रीति-नीति, आर्यशास्त्रनियन्त्रित और महापुरुष प्रवर्तित प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय के सुगंभीर तत्व सिद्धान्त और परम कल्याणकर साधन प्रणाली के साथ कालक्रम से थोड़ा बहुत मिल ही जाते हैं । किन्तु उस कुसंस्कार के लिए किसी धर्म या सम्प्रदाय की निन्दा करना किसी प्रकार उचित नहीं, आवर्जना के कारण सारवस्तु की अवहलेना करना संगत नहीं । प्रत्येक साधक के लिए ही यह उचित है कि अपने अपने सम्प्रदाय के भीतर अनुप्रविष्ट धर्मतत्वविरोधी मतवाद और आचारव्यवहार की आवर्जना राशि को दूर करने का प्रयत्न करें । किन्तु जिस धर्म अथवा सम्प्रदाय को हम अपना नहीं मानते, किंवा जिसे अपना कहने का हमें अधिकार नहीं, उनके भीतर अनुप्रविष्ट दोषराशियों के सम्बन्ध में विशेष कोई समालोचना न करना ही संगत है ।

योगिराज जी कभी-कभी यह भी कहते थे कि प्रत्येक सम्प्रदाय के धर्म मन्दिर के समक्ष प्रणत होना एवं यथोचित सम्मान प्रदर्शन करना उचित है। काली मन्दिर, शिव मन्दिर या विष्णु मन्दिर हो, ब्राह्म मन्दिर, गिरजा या मस्जिद हो-प्रत्येक मन्दिर ही भगवान का मन्दिर है, एवं कोई भी मन्दिर जब सामने आ जाय तो विशेष रूप से भगवान् का स्मरण करके भक्तिपूत चित्त से प्रणाम करना उचित है । किसी समाज के मन्दिर के प्रति असम्मान प्रदर्शन करना, अपने आराध्य देवता का ही असम्मान करना है । विभिन्न मन्दिरों में विभिन्न सम्प्रदायों के उपासक विभिन्न पद्धतियों से एक ही भगवान् की उपासना करते हैं, किन्तु उससे मन्दिर का कोई सम्प्रदाय भेद या जाति भेद नहीं होता, क्योंकि मन्दिर उपासकों का नहीं उपास्य का होता है - मनुष्य का नहीं, ईश्वर का होता है ।

आहारनीति

आहारनीति के सम्बन्ध में योगिराज जी अपने तरफ से किसी विधि निषेध का उपदेश नहीं देते थे, किन्तु शिष्यों में प्रायः सबका ही यह संस्कार

था कि आहार के साथ धर्म-जीवन का एक अति घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसलिए अनेकों ने इस विषय में गुरुदेव के आदेश की जिज्ञासा की । ऐसी जिज्ञासा के उत्तर में योगिराज जी ने विशेष कोई आदेश न देकर केवल यही कहा कि, सनातनधर्मों-नुमोदित आहार करना उचित है । किन्तु इस प्रकार के साधारण उपदेश से अनेक शिष्य तृप्त न हो सके । किसी किसी ने यह प्रश्न उठाया कि सनातनधर्मानुमोदित आहार का अर्थ क्या होता है ? इसके उत्तर में योगिराज जी ने जो उपदेश दिये थे उसका मर्मार्थ यह है ।

हिन्दू समाज में एक देश और एक सम्प्रदाय में जिस प्रकार का आहार धर्मसंगत माना जाता है, दूसरे देश और सम्प्रदाय में वह धर्म विगर्हित मानकर त्याज्य होता है, एक प्रदेश में जो आहार करने से जिस श्रेणी के हिन्दू जातिच्युत और पतित माने जाते हैं, दूसरे प्रदेश में उसी श्रेणी के हिन्दुओं में वह प्रचलित खाद्य होता है, फिर एक ही प्रदेश में एक ही हिन्दू समाज के अन्तर्भुक्त कोई सम्प्रदाय जिस आहार की बात भी सुनकर सिहर उठता है और भगवान् का नाम स्मरण करता, दूसरा सम्प्रदाय उसी को पवित्र चित्त से अपने उपास्यदेवता के भोग के लिए निवेदन करता है । युगभेद से भी खाद्याखाद्य सम्बन्धीय विधि निषेध अनेक प्रकार से बदलते रहते हैं । विभिन्न काल के विभिन्न देश के विभिन्न सम्प्रदाय के तत्वदर्शी शास्त्रव्याख्याता आचार्यगण भी अपने अपने देशकाल और सम्प्रदाय के संस्कार, शक्ति, रुचि अवस्था और प्रचलित रीति नीतिं की ओर दृष्टि रखकर भिन्न-भिन्न प्रकार से सनातन धर्म शास्त्र की व्याख्या किए हैं, एवं प्रयोजनानुसार नये नये व्यवस्थाशास्त्रों का निर्माण करके नये नये विधि निषेधों का प्रवर्तन और अनुमोदन किये हैं । प्राचीन शास्त्रों में जिसका उल्लेख मेध्याहार के रूप में हुआ है, ऐसा कोई कोई खाद्य युग परिवर्तन के साथ समग्र हिन्दू समाज द्वारा वर्जित होता है । सुतरां आहार के सम्बन्ध में सार्वजनिक नियम का निर्देश करना कठिन है । तब यह सर्ववादसम्मत है कि, जिस प्रकार का खाद्य जिस नियम से और जिस परिमाण में ग्रहण करने से शरीर स्वस्थ और सवल रहे, रक्त दूषित न हो, इन्द्रियों में किसी प्रकार की अस्वाभाविक उत्तेजना न उत्पन्न हो, एवं मन में किसी प्रकार के अपवित्र भाव का संचार न

हो, जिस प्रकार के आहार्य के आयोजन में हिंसाद्वेष, निष्ठुरता, संकीर्णता आदि असद्वृत्तियों को प्रश्रय न मिले, जैसा आहार शास्त्र, समाज और देशाचार द्वारा अनुमोदित हो, एवं घर और परिवार में साधारणतः प्रचलित हो, उसी प्रकार का आहार विचारपूर्वक ग्रहण करना संगत है । यही है आहार सम्बन्धीय मूल नीति और यही है सनातन धर्म का निर्देश । व्यक्तिगत जीवन में किसके लिए किस प्रकार का आहार उपयोगी और साधन के अनुकूल होगा, इसका निर्णय मूलनीति का अनुवर्तन करते हुए विशेष विचार और परीक्षा द्वारा स्वयं ही कर लेना चाहिए । आहारादि बाहरी नियम निष्ठा का अधिक आडम्बर करके धार्मिकता का डंक पीट एवं परिवारवर्ती और निकटवर्ती लोगों को त्रस्तव्यस्त करना धर्म जीवन में कल्याणप्रद नहीं होता ।

आहार्यद्रव्यमात्र ही इष्ट देवता को निवेदन करके स्वयं उनका प्रसाद ग्रहण करना चाहिए । यदि आहार योग्य द्रव्य सामग्री अपने भोग के उद्देश्य से किया जाय, एवं अपने को सर्वदा भगवत्प्रसादभोजी के रूप में अनुभव किया जाय, तो आहारादि कार्य भी भगवत्सेवा में परिणत हो जाता है, खाद्यद्रव्य भी अमृत में परिणत हो जाता है और आहार्यग्रहण भी लोभपूर्वक न होकर भक्तिपूर्वक होता है । किसी को पीड़न, हिंसन या अपहरण न करके, किसी के मन पर अन्याय से आघात न करके, और अपने देहेन्द्रिय मन में तामस भाव को प्रश्रय न देकर, जो द्रव्यसामग्री संग्रह की जाती है, और जो पवित्रता के साथ प्रस्तुत की जाती है तथा मन में यही अनुभूति होती है कि वह वस्तुतः पवित्र है; वही स्वच्छन्द चित्त से इष्टदेवता को निवेदन किया जाता है, वही देवता के भोग के योग्य होता है । जो वस्तु पुण्यमयतनु देवता के भोग के निमित्त अर्पित होने के योग्य नहीं जान पड़ती, जिसे देवता के समक्ष रखने में चित्त संकुचित और कुण्ठित होने लगता है, वह वस्तु अपने भोग के लिए भी उपयुक्त नहीं है, यही समझना चाहिए । ऐसे वस्तु के आहार से आहार शुद्धि नहीं होती, सुतरां देहशुद्धि, इन्द्रियशुद्धि और चित्तशुद्धि का व्याघात होता है । इष्टदेवता को प्रेम के साथ भोजन कराने के योग्य भोग्य वस्तु; उन्हीं की सेवा के उद्देश्य से विशुद्ध भाव से अर्जन और प्रस्तुत करके, भक्तिपूत चित्त से उन्हें

निवेदन करके उसके प्रसाद को, उन्हीं के अनुग्रह का दान समझ कर, देहेन्द्रिय मन के पोषण और साधन योग्यता सम्पादन के लिए उपयुक्त मात्रा में, निर्लोप आनन्द के साथ यदि भोजन किया जाय तो सर्वांगीण कल्याण होता है ।

योगिराज जी गुरु, पिता, माता तथा स्त्रियों के लिये स्वामी आदि विशिष्ट पूजनीय व्यक्तियों के अतिरिक्त और किसी का भी मुखोच्छिष्ट ग्रहण करने का अनुमोदन नहीं करते थे । क्योंकि किसी के शरीर में किसी प्रकार की व्याधि रहने पर या मन में किसी अपवित्र भाव की प्रवलता रहने पर, वह शुक्तावशेष अन्न के साथ संक्रामित होकर उच्छिष्टभोजी का अनिष्ट कर सकते हैं । अपने गुरु से भिन्न किसी दूसरे महापुरुष का भी मुखोच्छिष्ट भोजन न करना ही सङ्गत है, यही वह कहते थे । किन्तु किसी महापुरुष का आश्रित कोई शिष्य यदि अपने गुरु के उद्देश्य से भोग निवेदन करे, तो उस अमुखोच्छिष्ट प्रसाद को ग्रहण करने में किसी को कोई आपत्ति का कारण नहीं होता, क्योंकि महापुरुषगण व्यक्तिगत रूप से पृथक होने पर भी गुरु सवका ही एक होता है - अर्थात् एक विश्व गुरु भगवान् ही विभिन्न मूर्तियों के भीतर से विभिन्न श्रेणी के धर्म पिपासुओं पर कृपा करते हैं,-जो व्यक्ति जो कुछ अपने गुरु उद्देश्य से निवेदन करता है, वह विश्व गुरु भगवान में ही अर्पित होता है, एवं उनका प्रसाद भगवान् का ही प्रसाद होता है ।

पारिवारिक कर्त्तव्य

पारिवारिक कर्त्तव्य के सम्बन्ध में उपदेश के लिए प्रार्थना करने पर वे कहते थे कि, पिता-माता, स्त्री-सन्तान, आत्मीय स्वजन और आश्रित वर्ग का भरण पोषण और यथोचित सुख स्वाच्छन्द्य का विधान करना गृहस्थमात्र का ही अवश्य कर्त्तव्य है । किन्तु यह प्रयत्न अपने और दूसरों के नैतिक, आध्यात्मिक कल्याण की ओर सुतीक्ष्ण दृष्टि रखते हुए धमं संङ्गत उपायों से जितना संभव हो, उतना ही करना उचित है । इन कर्त्तव्यों के सम्पादन करने के समय,-'मंरे स्त्रीपुत्र', 'मेरी धन सम्पत्ति', 'मेरे आश्रित वर्ग', 'इनका सुख दुःख मङ्गल अमङ्गल मेरे ऊपर निर्भर करता है', 'इन लोगों के भविष्य सुखस्वाच्छन्द्य के

लिए भी मुझे ही व्यवस्था करना है', इस प्रकार के अहमाभिमानपोषक भावना द्वारा माया का बन्धन सुदृढ़ और तत्वज्ञानालोक का मार्ग रूद्ध न करके, गुरु वाक्योपदेशानुगत विचार की सहायता से नियत धारणा रखने का यत्न करना चाहिए कि, ये सभी भगवान् के संतान हैं, इन सबके ही अन्तरात्मा स्वरूप में स्वयं भगवान् विराजमान हैं, मेरे जीवन की पूर्णता साधन के लिये इन सब मूर्तियों के भरण-पोषणादि का दायित्व और तदनुरूप शक्ति और सुयोग प्रदान करके प्रेममय गुरु भगवान् हीं नाना रूपों में, नाना सम्पर्कों में, मेरे साथ संयुक्त हुए हैं, एवं वे ही इन विग्रहों का अवलम्बन करके मेरे श्रद्धा, भक्ति, दया आदि चित्तोत्कर्ष साधक सद्वृत्तियों के आकर्षण, उद्बोधन और प्रसारण द्वारा मेरी सेवा ग्रहण करके मुझको कृतार्थ कर रहे हैं ।

साधु सेवा, अतिथि सेवा, आर्त सेवा, गो सेवा आदि भी पारिवारिक कर्त्तव्य के अंग हैं, एवं गृहस्थ मात्र को ही ये सब कम आन्तरिक श्रद्धा, निष्ठा और तत्परता के साथ विधिपूर्वक सम्पादन करना चाहिए । परलोकगत पितरों और स्वजनों के प्रति भी गृहस्थों का कर्त्तव्य होता है । उनके सूक्ष्म, देह की तृप्ति और ऊर्ध्व गति के उद्देश्य से श्राद्धादि पारलौकिक कर्म एवं अन्नदान, जलदान, वस्त्रदान, भूमिदान, अर्थदान आदि लोकहितकर शुभ कर्मों का सम्पादन करना गृहस्थ जीवन में अवश्य कर्त्तव्य है । इस कर्त्तव्यों के यथाशक्ति अनुष्ठान में मन न लगाना अनुचित होता है । इन कार्यों को भी फलानुसंधित्सार हित होकर भगवत्सेवा का अंग समझ कर सम्पन्न करना चाहिए । इस बात को स्मरण रखने का प्रयत्न करना चाहिए, कि मनुष्य जीवन भगवान् की सेवा के लिए ही मिला है और कर्म क्षेत्र भगवान् का ही मन्दिर है । मानव जीवन को सब प्रकार से सार्थक कर देने के लिए अन्तर्यामी भगवान् ही जीवन मनुष्य को अनेकों बाह्य और आन्तर पूजा सामग्री के साथ कर्म क्षेत्र रूप पूजा मन्दिर में भेजते हैं, एवं स्वयं ही साधु, अतिथि, दीन दुखी, पिता माता, पुत्र कलत्र, शत्रु मित्र आदि नाना प्रकार के विग्रह धारण कर नाना प्रकार से उसकी पूजा ग्रहण करने के लिये उपस्थित होते हैं । मनुष्य पूजा करके ही कृतार्थ होता है, पूजा के विनिमय में किसी फल की कामना करना ही उत्कृष्ट के बदले में निष्कृष्ट

का वर्णन करना है । ऐसी निष्काम पूजा ही गृहस्थों का उत्तम साधन है, एवं इसी के द्वारा वे परम कल्याण प्राप्त करते हैं ।

स्वामी-स्त्री सम्बन्ध

किसी किसी शिष्य ने गुरुदेव से पूछा कि पति पत्नी का परस्पर में कैसा सम्बन्ध होना चाहिए । इसके उत्तर में उनका यह उपदेश था कि, पति के लिए पत्नी के प्रति पत्नी के भाव-अर्थात् सहधर्मिणी का पवित्र भाव-रखकर ही समुचित व्यवहार करना उचित है, एवं पत्नी के लिए पति के प्रति पवित्र पतिभाव रखकर ही पवित्र प्रेमभक्तिपूर्ण व्यवहार करना उचित है । पति यदि पत्नी को प्रधानतः एक परिचारिका किंवा भोग विलास का एक उपकरण समझ कर वैसा ही व्यवहार करे एवं प्रधानतः अपने सुख स्वाछन्द्य विधान और विलास वासना परितृप्ति के एक श्रेष्ठ यंत्र रूप में स्त्री को ग्रहण करके उसी सम्पर्क में उसके मनोरंजन, शारीरिक सौष्ठव सम्पादन और आदर सत्कार में रत रहे, तो पत्नी के प्रति पत्नी के योग्य व्यवहार नहीं हुआ, उसको सहधमिणी को मिलने वाली मर्यादा नहीं मिली उसका व्यवहार विलासिनी या भोगदासी के समान किया गया । ऐसा व्यवहार पति के योग्य नहीं उपपति के योग्य भले ही हो। इससे कुल लक्ष्मी स्वरूपा स्त्री की अवमानना होती है, गार्हस्थ्यजीवन का उद्देश्य भी व्यर्थ हो जाता है । स्त्री यदि प्रधानतः भोगविलास के लिये ही स्वामी का अनुसरण करे एवं नाना प्रकार से पति के लिए देहेन्द्रिय मन के विनोदन द्वारा उसके चित्त को अपने वश में कर लेने तथा उसको भोगमार्ग पर खींच लेने का ही प्रयत्न करे, तो यह सहधर्मिणी का उचित कार्य न होगा, स्वामी के प्रति स्वामी के समान व्यवहार नहीं हुआ । पति की विरूद्धाचारिणी होकर उसके जीवन को अशान्तिमय कर देना और पारिवारिक श्रृंखला को नष्ट कर देना जिस प्रकार स्त्री के लिए पाप है, उसी प्रकार पति के और अपने जीवन को भोग-विलासमय और स्वार्थकूपनिमग्न कर लेने का प्रयत्न भी पाप है ।

इस बात को स्मरण रखना आवश्यक है कि गार्हस्थ्य जीवन को विधान भोग-विलास के लिये अथवा भोग्य विषयों की दासता में मनुष्य को

प्रवृत्त कर देने के लिए नहीं हुआ। शास्त्रकारों ने स्त्री-पुरुष को धर्म पथ से विच्युत करके देहेन्द्रिय तर्पणरत पशु में परिणत कर देने के लिये विवाह और संसार धर्म की व्यवस्था नहीं की है। जो स्त्री पुरुष संसार की केवल भोग का स्थान समझते हैं एवं भोगलिप्सा कलुषित नेत्रों से संसार के सभी व्यक्तियों और वस्तुओं के प्रति दृष्टिपात करते हैं, उन्हीं के जीवन में जब किसी शुभ मुहूर्त में धर्म पिपासा उत्पन्न होती, तब संसार उनके लिये पापमय प्रतीत होता हैं, एवं गार्हस्थ्य जीवन में रहते हुए धर्म साधना में अग्रसर होना असम्भव जान पड़ता है। वे नहीं जानते कि गृहस्थाश्रम का गठन पाप की भित्ति बनाकर नहीं किया गया है। दुर्भाग्यवश अपने संसार और शिक्षा के दोष से ही वे संसार अधर्म प्रतिष्ठ देखते हैं एवं चारों तरफ पाप और प्रलोभन का प्रादुर्भाव ही उन्हें दृष्टिगोचर होता हैं। स्त्री पुरुषों के स्वाभाविक इन्द्रिय प्रवृत्ति और भोगवासना को स्वभावानुकूल उपायों से सुनियन्त्रित और संकुचित करके उनके अन्तर्निहित आध्यात्मिक भावों और शक्तियों को उद्‌बुद्ध और परिस्फुट करने के उद्‌देश्य से, एवं परस्पर विच्छिन्न व्यक्तियों को प्रेम और कर्त्तव्य के बन्धन में परस्पर सम्मिलित करके धर्मनिष्ठ सुश्रृङ्खल मानव समाज प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से ही गार्हस्थ्य जीवन का विधान हुआ। दाम्पत्य सम्बन्ध इस पवित्र गार्हस्थ्य जीवन का केन्द्र है। पति और पत्नी का सम्बन्ध कार्यतः उद्देश्यानुरूप होने से संसार यथार्थ ही धर्ममन्दिर बन जाता है। प्रत्येक विवाहित पुरुष और नारी को समाज के निकट, पूर्व पुरुषों के निकट, भावी वंशधरों के निकट और विश्वनियन्ता भगवान् के निकट अपने अपने महान् दायित्व का स्मरण रखते हुए जीवन यापन करना चाहिए।

पति और पत्नी आपस में पवित्र प्रेम और धर्म के बन्धन में बंधकर यदि एक दूसरे के प्रति यथाविहित व्यवहार करना सीख जाँय, तो दोनों से अपने अपने आध्यात्मिक कल्याण साधन में और कर्म क्षेत्र में स्वपरहितकर पुण्यमय कर्मानुष्ठान में बहुत मात्रा में शक्ति, प्रेरणा और सहायता प्राप्त हो सकती है। शास्त्रों में स्त्री के शक्ति स्वरूपिणी कहा गया है। वस्तुतः स्त्री अपने स्वभावोचित प्रेम, सेवा, कोमलता और आत्म निवेदन के भीतर से पुरुष के

प्राणों में अचिन्तनीय शक्ति संचार करने में समर्थ है। स्त्री कामिनीरूप धारण करने पर, जिस प्रकार शक्ति हरण करके सर्वनाश कर सकती है, उसी प्रकार धर्म पत्नी रूप में शक्ति संक्रामित करके अशेष कल्याण का साधन भी कर सकती है। सुतरां स्त्री को ऐसी शिक्षा देना और उसके प्रति ऐसा ही व्यवहार करना आवश्यक है, जिससे वह शक्तिनाश की कारण न होकर शक्ति साधना की सहायक बन जाय। पति-पत्नी के बीच धर्मानुमोदित इन्द्रिय सम्पर्क भी एक विशेष दायित्वपूर्ण कार्य के रूप में निर्दिष्ट हुआ है। वश परम्परागत कुल धर्म का रक्षण, पोषण और प्रसारण गृहस्थ का एक कर्त्तव्य है। धर्मनिष्ठ गृहस्थों के सुसन्तान द्वारा ही कुलधर्म की श्रीबृद्धि होती है, एवं समाज में भी धर्म का अभ्युदय होता है। सुतरां कुल और समाज के प्रति दायित्व का विचार करके सुसन्तानोत्पादन के अभिप्राय से पति-पत्नी का इन्द्रिय संगम शास्त्रविहित है। इसमें पाप नहीं होता। इस महान् उद्देश्य का स्मरण रखने से स्वभावतः दोनों की इन्द्रियलालसा संकुचित हो जाती है, एवं उससे आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर होने में सहायता मिलती है।

गृहस्थ के लिये स्त्री को हेय या नरक का द्वार समझना नितान्त असंगत है। इससे स्त्री की आत्ममर्यादा पर आघात लगता है, एवं फलतः उसके आत्मसम्मान बोध का साधन होता है, सौहार्दकारिणी शक्ति और प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है, एवं कार्यतः यह आध्यात्मिक जीवन का एक भयानक बिघ्न बन जाती है। जो लोग अपने इन्द्रियपारतन्त्र्य और विलासिता के दास बनकर धर्मपत्नी को कामिनी या विलासिनी बना देते हैं, वे स्वयं अपने नरक प्रवेश का मार्ग बहुत कुछ आप ही उन्मुक्त कर देते हैं, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु सती स्त्री अनेक क्षेत्रों में पति के लिये नरक से लौट आने का द्वार बन जाती है। धर्मनिष्ठ गृहस्थ के लिये धर्मपत्नी स्वर्ग का ही द्वार होती है, एवं स्त्री के अन्तःकरण में इस गौरववोध को ही जागृत करने का प्रयत्न करना चाहिये। वस्तुतः अपनी असंयत इन्द्रियलालसा ही नरक प्रवेश का द्वार है और सब पापों का आकार है। इन्द्रियलालसा को संयत न करने पर नारी की महिमा का ज्ञान नहीं होता, एवं यह नहीं समझा जा सकता कि गृहस्थाश्रम में आध्यात्मिक जीवन की उन्नति

करने में सहधर्मिणी किस मात्रा में सहायता कर सकती है । स्त्री को भोगविलास की सामग्री समझ कर उसके देह पर अत्यधिक आसक्त हो जाना जिस प्रकार अकल्याणकर होता है, उसी प्रकार उसको धर्मपथ का कंटक समझ कर अवज्ञा करना भी कल्याणकारी होता है । गृहस्थ के लिये शास्त्रविहित गार्हस्थ्य-धर्म प्रतिपालन में प्रयत्नशील होना ही सुसंगत है ।

पारलौकिक क्रिया

कोई-कोई भक्त पूछते थे कि, हम लोगों के लिये जो श्राद्धादि पारलौकिक क्रिया सम्पादन की विधि है, उसकी कोई विशेष सार्थकता है या नहीं, उससे हम लोगों का या पितृ पुरुषों का कोई लाभ होता है या नहीं, पितृ पुरुषों को हमारा दिया हुआ पिण्ड जल आदि प्राप्त होता है या नहीं, एवं यदि होता है तो उसका कोई निदर्शन हम पा सकते हैं या नहीं, विशेषत: जिनके उद्देश्य से हम श्राद्धादि करते हैं, उनमें से कितने ही शायद अपने कर्मानुसार पुनर्जन्म प्राप्त कर लिये हों तो हमारे इन कार्यों से उन्हें तृप्ति मिलने की सम्भावना कहाँ ? इसी प्रकार यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्म फल का ही भोग करता है, तो हमारे श्राद्धादि कर्मों के फल से पितृ पुरुषों को मुक्ति की प्राप्ति या ऊर्ध्वगति की प्राप्ति किस प्रकार सम्भव होगी ? ऐसे प्रश्नों के उत्तर में येगिराज जी साधारणत: शिष्यों को इन शास्त्रविहित पारलौकिक क्रियाओं के फलाफल के सम्वन्ध में संदेही होने का निषेध करते थे, एवं साधन जीवन में फलाफल-निरपेक्ष होकर शास्त्रमर्यादा की रक्षा के लिये निरपेक्षभाव से इन शुभ कर्मों का यथाविधि अनुष्ठान करने के लिये उपदेश देते थे । वे तर्कयुक्ति की सहायता से इसकी सार्थकता प्रतिपादन का प्रयास नहीं करते थे, तथापि इस बात का संक्षेप में निर्देश करते थे कि, जो लोग सकाम भाव से इन कर्मों का सम्पादन करते हैं उन्हें अभीप्सित फल की प्राप्ति होना असम्भव या युक्ति विरुद्ध नहीं है ।

वे कहते थे कि, श्राद्धादिकर्म शास्त्रविहित हैं, एवं शास्त्रविधान का अनुवर्ती होकर ही उनका सम्पादन करना चाहिये । इन सब क्रियाओं द्वारा

अनुष्ठाता की चित्तशुद्धि में सहायता होती है । गृहस्थमात्र का ही विविध जीवित आत्मीय स्वजनों के साथ भक्ति प्रीतिस्नेहादि मिश्रित सम्पर्क तो विद्यमान ही है, एवं इन सम्पर्कों द्वारा उनके जीवन का सौन्दर्य, माधुर्य, आनन्द और दायित्वबोध एक बड़े परिमाण में बढ़ जाता है । श्राद्धादि क्रियाओं के भीतर इस बात का स्मरण जागृत रहता है कि, देह नाश के साथ-साथ हमारे उन सम्बन्धों का भी नाश नहीं हो जाता, वरन अधिकतर निर्मल और उदार हो जाता है, एवं उनसे जीवन की सरसता में विकार नहीं आता; इस बात का बोध होता है कि जीवन शरीर मात्र में सीमित नहीं है, अपितु सुदूर अतीत से सुदूर भविष्य तक प्रसारित है तथा मानव जीवन कितना व्यापक है और उसका दायित्व कितना बड़ा है। श्राद्धादि क्रियायें चित्त को इस बात में सर्वदा सजग रखती है कि, मैं केवल अपने लिये ही नहीं हूँ और न मेरा जीवन केवल वर्तमान में ही आबद्ध है, जो लोग जीवित हैं वे जिस प्रकार मेरे निज जन हैं, उसी प्रकार जो मर चुके हैं अथवा भविष्य में उत्पन्न होगें, वे सभी हमारे निजजन हैं, उन सबके साथ मेरा जीवन घनिष्ठ रूप से संश्लिष्ट है, तथा उन सबके साथ मेरा आदान प्रदान चल रहा है और चलेगा । श्राद्धादि कर्म हमें इस बात का स्मरण दिलाकर हमारे जीवन को उन्नत और उदार बनाते हैं कि, हम मृत तथा जीवित सबके ही ऋणी हैं, एवं उनके ऋण का शोध करने में हमें अपने शक्ति और सामग्री का प्रयोग करना चाहिये ।

श्राद्धादि क्रियायों से पितरों को तृप्ति प्राप्त होती है । जीवित वंशधरगण श्रद्धा के साथ उनकी कल्याण कामना करके जो कुछ अर्पण करते हैं, उससे उनके सूक्ष्म शरीर में कथंचित् सुखसम्भोग होता है तथा ऊर्ध्वगति भी प्राप्त होती है । वे यदि दूसरे देहों में जन्म भी ले लिये हों यहाँ तक कि कर्मदोष से यदि निकृष्ट योनि भी प्राप्त हुई हो, तथापि उनके उद्देश्य से श्रद्धापूर्वक तीव्र शुभेच्छा के साथ जीवित व्यक्तियों द्वारा जो पिण्ड जलादि अर्पित होता है, उससे उन योनियों में रहते हुए भी उन्हें तृप्ति प्राप्त होती है, वहाँ भी किसी प्रकार उनका सौभाग्योदय और यन्त्रणालाघव होता है, एवं अपेक्षाकृत अनुकूल और सुखप्रद अवस्था और प्रियतर भोग्य द्रव्यादि की प्राप्ति होती है । उदाहरण स्वरूप

किसी को कदाचित् गौ का जन्म मिला हो, एवं इधर उसके उद्देश्य से श्रद्धानुष्ठान हुआ; फलस्वरूप दैवात् वह एक हरे फसल भरे हुए खेत में पहुँचा और परितोषपूर्वक भोजन की सुविधा मिली, किंवा किसी निष्ठुर स्वामी के हाथ से मुक्त होकर सेवापरायण प्रभु के घर पर पहुँच कर सुखस्वाच्छन्द्य प्राप्त किया। गया श्राद्धादि के फलस्वरूप अनेक समय परलोकगत जीव ऊर्ध्वगति प्राप्तिकर उन्नततर लोकों में गमन करते हैं, किंवा नीच योनि से मुक्त होकर उच्चतर जन्म प्राप्त करते हैं, एवं उनके अनेक पाप खण्डित हो जाते हैं। यह कहना तो बेकार ही है कि श्रद्धादि क्रियाओं के फलस्वरूप किसी को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि वंशधरों को छोड़ जाना एवं उनसे श्रद्धा सहित पिण्ड जलादि प्राप्त करना भी स्वकृत कर्मों का ही फल है।

अष्टमोपदेश

लौकिक व्यवहार

यद्यदाचरित श्रेष्ठ स्तत्तदेवेतरोजनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
यथा सम्भवया वृत्या लोकशास्त्राविरुद्धया ।
सन्तोषसन्तुष्टमना भोगगन्धं परित्यजेत् ॥

लोक शिक्षक बाबा गम्भीरनाथ जी लौकिक व्यवहार के सम्बन्ध में जैसा उपदेश देते थे उसको संक्षेप में एकत्र इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है ।

समाज संस्कार, महापुरुषों का कार्य

समाज में जिस प्रकार का आचार व्यवहार धर्मसंगत माना जाता है, एवं समाज के असाधारण विचार शक्ति सम्पन्न बहुदर्शी श्रेष्ठ व्यक्तिगण जैसी रीतिनीति का आचरण और अनुमोदन करते हैं, साधारण जन समाज के लिये उसका अनुसरण करना और उसी के अनुसार अपना-अपना कर्त्तव्य-निर्धारण करना ही निरापद तथा संगत होता है जब सामाजिक रीति-नीतियों का संस्कार आवश्यक होता है, तब समाज के शीर्षस्थानीय महापुरुषगण ही कार्यतः उस संस्कार साधन में व्रती होते हैं, एवं वे ही उसमें समर्थ होते हैं । जब दीर्घकाल प्रचलित रीति-नीतियों के भीतर कालक्रम से मानव प्रकृति की स्वाभाविक बहिर्मुखता और दुर्बलतावश नाना प्रकार के दोष प्रविष्ट हो जाते हैं, अथवा युगपरिवर्तन के साथ-साथ स्थान विशेष में बहिःप्रकृति का स्वभाव और जन-साधारण की शक्ति और मनागति एवं विभिन्न समाजों के बीच परस्पर का सम्बन्ध स्वाभाविक नियम से ही परिवर्तित होते-होते जब ऐसी अवस्था आ जाती है कि, जो रीति-रिवाज प्राचीन युग में अत्यावश्यक और कल्याणकारी थे, वे सब भी वर्तमान युग के लिये नितान्त अनुपयोगी हो जाते हैं, उनकी

वर्तमान काल के जनमानस की जीवनधारा को सुनियन्त्रित करके सत्य मंगल और शान्ति के मार्ग पर चलने की शक्ति लुप्त हो जाती है, तब उन रीतिनीतिओं का युगोपयोगी संस्कार करने के उद्देश्य से भगवद्विधान से समाज के बीच विशेष विशेष असाधारण शक्तिसम्पन्न महापुरुषों का आविर्भाव होता है। किसी विशेष समाज की वर्तमानकालीन अवस्था कैसी है, उसके आन्तर और बाह्य प्रकृति का स्वरूप कैसा है, उसके सर्वांगीण कल्याण के लिये वर्तमान अवस्था में कैसी विधि व्यवस्था की आवश्यकता है, इन बातों को विशेष बुद्धि शक्तिसम्पन्न सूक्ष्मदर्शी और महापुरुषगण ही ठीक तरह से समझ सकते हैं एवं तदनरूप परिवर्तन करने में समर्थ हो सकते हैं। वे समाज की आत्मा के प्रतिनिधि स्वरूप होते हैं। उनके निर्देश को, समाज का अङ्ग प्रत्यङ्ग समूह, इच्छा अथवा अनिच्छा से, मानने तथा अनुवर्तन करने को बाध्य होता हैं। वे जिन शास्त्रों अथवा अनुशासन वाक्यों का, प्रामाणिक मानकर, उपदेश करते हैं, साधारण लोग भी उसी को प्रामाणिक मानते हैं।

इसी नियम से विभिन्न युगों में विभिन्न देशों में सामाजिक आचार व्यवहार का संस्कार होता आया है, शास्त्रो की नई-नई व्याख्या प्रचारित तथा स्वीकृत होती आई है, एवं शास्त्रोक्त एक-एक प्रकार के अनुशासन वाक्य एक एक समय में एक-एक स्थान पर प्राधान्य प्राप्त करते रहे हैं। इससे सामाजिक जीवन के भीतर किसी प्रकार की विश्रृङ्खला नहीं उत्पन्न होती, समाज देह के विभिन्न अंग प्रत्यंगों के बीच योगसूत्र छिन्न नहीं होता, देशकालावस्थानुरूप नानाविधि परिवर्तनों के भीतर से अग्रसर होने पर भी समाज को एकता नष्ट नहीं होती, तथापि प्रयोजनानुरूप संस्कार साधन में भी किसी प्रकार का व्याघात नहीं होता।

यह क्षुद्रशक्तिवालों का कार्य नहीं

साधारण अल्पशक्ति विशिष्ट लोग यदि व्यक्तिगत रूप से अपनी अध्यवस्थित बुद्धि का अनुवर्तन कर समाज में प्रचलित रीतिनीतियों के विरूद्ध चलने लगें, तो समाज में विश्रृङ्खला उत्पन्न होगी एवं अपनी उछृङ्खलता को

प्रश्रय मिलेगा, और इससे समाज जीवन के अकल्याण की सम्भावना तथा अपने जीवन के कल्याण मार्ग के कंटकाकीर्ण हो जाने की सम्भावना भी होगी। समाज में एक-एक व्यक्ति के एक-एक मार्ग पर चलने से समाज का जीवित रहना ही सम्भव न होगा। इन सब कारणों से आहार, विहार, विवाह, श्राद्ध, जातिवैषम्य आदि विषयों में जो रीति समाज में अवश्य पालनीय मानी जाती है, और समाज के शीर्ष-स्थानीय व्यक्तियों ने जिस आचार व्यवहार को वर्तमान युग के लिए धर्म विरोधी नहीं घोषित किया तथा प्रयोजनानुरूप उनके परिवर्तन का उपदेश और पथ प्रदर्शन नहीं किया, उन विषयों में प्रचलित नियमों का अनुवर्तन करना ही अपरिपक्व बुद्धि दुर्बल व्यक्तियों का कर्त्तव्य है। परन्तु जिन विषयों में समाज व्यक्तिगत स्वाधीनता के ऊपर हस्तक्षेप नहीं करता, एवं जिन बातों में अनन्यापेक्ष होकर अपनी स्वाधीनता का प्रयोग करने से समाज जीवन में तथा निज जीवन में उच्छृङ्खलता आने की सम्भावना नहीं रहती, उन विषयों में स्वतंत्ररूप से विचार शक्ति का साहाय्य लेकर कर्तव्याकर्त्तव्य निर्धारणपूर्वक कल्याणमार्ग पर अग्रसर होने का प्रयत्न उचित है।

जाति भेद

जातिभेद मानकर चलने की आवश्यकता के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर, योगिराज जी का उत्तर था कि, जिस स्थान पर वर्णाश्रम धर्म का जो स्वरूप प्रचलित हो, उसकी मर्यादा की रक्षा करके चलना ही जनसाधारण का कर्त्तव्य है। उनके भीतर यदि यथेष्ट दोष भी प्रविष्ट हो गये हों, तो भी शक्तिशाली महापुरुषगण जबतक उन दोषों का क्षालन करके नूतन आकार में समाज के भीतर धर्म प्रवर्तन न कर सकें, तब तक समाजद्रोही होकर उसका निरादर करना संगत नहीं। उच्चवर्ण सम्भूत व्यक्तियों को इस बात का सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि, समाज धर्म की मर्यादा की रक्षा करना समाज के अन्तर्भुक्त व्यक्तियों का कर्त्तव्य है, इसीलिए निम्नवर्ण सम्भूत व्यक्तियों के साथ सामाजिक पार्थक्य को मानकर चला जाता है, न कि अपने को श्रेष्ठ समझ कर अभिमान के वशीभूत होकर। इस बात पर तीक्ष्ण दृष्टि रखनी चाहिए कि, अन्तःकरण में कोई अहंकार या घृणा का भाव न पुष्ट होने पाये तथा अपने व्यवहार से

निम्नश्रेणी के लोगों के मन में किसी प्रकार का आघात न लगे अथवा सहानुभूति और प्रेम का अभाव न प्रकाशित हो। किसी मनुष्य को हेय समझने से या अवज्ञा की निगाह से देखने से अपने ही मनुष्यत्व का अपमान होता है तथा मनुष्योचित गुणों के विकास का मार्ग कंटकाकीर्ण हो जाता है।

पारमार्थिक ऐक्य और व्यावहारिक वैषम्य

एक शिष्य ने पूछा कि, ब्रह्म सर्वभूत में विराजमान है, सर्वत्र समदर्शी होना उचित है, यह बात शास्त्रों में है और आप लोग भी ऐसा ही उपदेश देते हैं, सुतरां सभी मनुष्य समान हैं, तो जातिभेद आदि मानकर विभिन्न प्रकार के लोगों के प्रति विभिन्न प्रकार का व्यवहार करना किस प्रकार धर्म संगत हो सकता है ? इसके उत्तर में बाबा गम्भीरनाथ जी कहते थे कि, केवल मनुष्य ही क्यों, ब्रह्मदृष्टि से तो सब जीव ही समान हैं, एवं सभी जीवों के प्रति ज्ञानी लोग समदर्शी होते हैं, ब्राह्मण, चाण्डाल, हिन्दू, मुसलमान, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सभी के प्रति समदर्शी होना शास्त्र का विधान है। सब भूतों पर समदृष्टि का ही नाम ब्रह्मज्ञान है, एवं सब भूतों में ब्रह्म है, इस तत्व की नित्यनिरन्तर भावना करने का नाम ही है ब्रह्मज्ञान। इस समदर्शित्व का अभ्यास करना विचारशील साधक मात्र का ही कर्तव्य है। किन्तु सब जीवों के साथ समवर्ती होना अर्थात् सब प्राणियों के साथ समान भाव से चलना और समान भाव से मिलना जुलना क्या कभी सम्भव होगा ? व्यावहारिक जीवन में तो वैषम्य रहेगा ही।

समदर्शी होना चाहिए, समवर्ती नहीं होना चाहिए

यद्यपि मनुष्य के नाते सब मनुष्य समान हैं, तथापि न उन सबका व्यावहारिक जीवन ही एक प्रकार का हो सकता है और न उनके बीच का व्यवहारिक सम्बन्ध ही। विभिन्न श्रेणी के मनुष्य की प्रकृति, बुद्धि, शक्ति, शिक्षा और साधना आदि के पार्थक्य के अनुसार उनके स्वधर्म का पार्थक्य होता है तथा व्यावहारिक सम्बन्ध का भी पार्थक्य होता है। न ब्राह्मण का कार्य चाण्डाल के लिए उपयोगी होगा, न चाण्डाल का ब्राह्मण के लिए। ब्राह्मण अपने स्वधर्म का

पालन करे चाण्डाल अपने स्वधर्म का। इससे दोनों का ही कल्याण होगा। प्रत्येक श्रेणी के मनुष्य अपने-अपने स्वभाव और शक्ति के अनुरूप धर्मसंगत मार्ग ग्रहण करने से ही परम कल्याण की ओर अग्रसर होते हैं किन्तु गुण और कर्म के पार्थक्य एवं वृत्ति की भिन्नता के अनुपात से मनुष्य मनुष्य के बीच व्यावहारिक वैषम्य, दूरत्व और उच्च नीच भाव चिरकाल से ही सब देशों में है और रहेगा। जागतिक विधान के विरूद्ध हठात् आचार व्यवहार की खिचड़ी कर देने से ही वैषम्य दूर नहीं होता। उससे समदर्शन भी प्रतिष्ठित नहीं होता। समदर्शन न व्यावहारिक वैषम्य लोप के ही ऊपर निर्भर है, न सबके एकाचार हो जाने पर ही। व्यावहारिक वैषम्य के भीतर ही साम्य की प्रतिष्ठा करनी होगी, आचार व्यवहार के पार्थक्य के भीतर ही समदृष्टि का अभ्यास करना होगा, प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक श्रेणी के वैशिष्ट्य को सुरक्षित रखकर ही उसके अन्दर पारमार्थिक ऐक्य का दर्शन करना होगा। अतः ''समदर्शी'' होना चाहिए, समवर्ती नहीं होना चाहिए।

लोकोत्तर महापुरुषों का आचरण सब क्षेत्रों में अनुकरणीय नहीं

शिष्य ने फिर प्रश्न किया कि, किसी- किसी महात्मा के विषय में सुना जाता है कि उन लोगों ने, साम्य में प्रतिष्ठित होने के उद्देश्य से मेहतरों के काम भी अभ्यास किया था, एवं मेहतर आदि का अन्न भी ग्रहण किया था, क्या उन लोगों का ऐसा व्यवहार संगत न था ? गुरुदेव ने उत्तर दिया कि, उन लोकोत्तर महापुरुषों की बात अलग है। लोकोत्तर शक्तिसम्पन्न महापुरुष समाजविधि के अतीत होते हैं, वे प्रचलित रीतिनीतियों के बहिर्भूत कार्य भी कभी-कभी कर सकते हैं। उनके इन विशेष असाधारण आचारणों का अनुकरण साधारण लोगों को नहीं करना चाहिये, उससे अकल्याण की ही सम्भावना होती है। विशेषतः जो लोग समाज के अधीन हैं, समाज के सहयोग के बिना जिनका जीवन धारण भी कठिन होगा, उनके लिए समाज विधि की अवमानना करना नितान्त असंगत होगा।

समाजविधि और धर्मनीति

शिष्य बोला कि तो क्या इसे समाजविधि के नाते ही मानना होगा, न कि धर्मनीति के नाते, आध्यात्मिक जीवन के मंगलामंगल के साथ इन सामाजिक नियमों के मानने न मानने का कोई विशेष सम्पर्क नहीं ? गुरुदेव ने उत्तर दिया कि, धर्मनीति और समाज नीति के बीच पार्थक्य का निर्देश करना कठिन होता है। धर्म के लिये ही समाज है, और समाज के लिए ही धर्म है। मनुष्यगण व्यक्तिगतरूप से जैसी अवस्था में जैसे नियम का पालन करके और जैसे कर्म का सम्पादन करके परस्पर की सहायता से सर्वाङ्गीण कल्याण मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं, उसी प्रकार की विधिव्यवस्था करके समाज उनका वैसे नियमों का पालन तथा कर्तव्य सम्पादन के लिये यथासम्भव बाध्य करता है। सबके सम्मिलित विचार शक्ति का प्रकाश ही समाजविधि है, एवं सबकी सम्मिलित इच्छाशक्ति ही समाज की शक्ति है। धर्म ही मनुष्यों को परस्पर सम्मिलित करके समाज गठन करता है एवं इस परस्पर के सम्मिलन से ही धर्मसाधना सम्भव होती है। मनुष्यों का धर्मज्ञान जिस परिमाण में विकसित होता है, समाज विधि भी उसी परिमाण में सुसंस्कृत और परमकल्याण प्राप्ति के अनुकूल होता है। चिरन्तन धर्मनीतियाँ देश, काल, पात्र और अवस्था के अनुसार जिस प्रकार की विधिव्यवस्था के रूप में प्रवर्तित होने से समाजस्थ व्यक्तिगण यथार्थ कल्याण मार्ग पर परिचालित हो सकेंगे, इस बात का सिद्धान्त समाज की सम्मिलित विवेक बुद्धि विचार पूर्वक कर लेती है, तब उसी प्रकार के आकार में धर्मनीतियों का ही समाज नीति के रूप में प्रचार होता है। सुतरां समाजनीति और धर्मनीति को सम्पूर्ण पृथक दृष्टि से देखना संगत नहीं। जब व्यक्ति अपनी इच्छानुसार समाजनीति का उल्लंघन करने में प्रवृत्त होता है, तब समाज की शक्ति लुप्त होने लगती है, समाज छिन्न-भिन्न होकर विनाश को प्राप्त होता है, साधारण लोगों की असंयत प्रवृत्तियाँ ही प्राधान्य प्राप्त करके उन्हें अधर्म के मार्ग पर खींच ले जाती हैं और धार्मिक व्यक्तियों के लिए भी धर्म साधना कठिन हो जाती है। जनसाधारण को धर्म जीवन प्रदान करने के लिए समाज शासन एकान्त आवश्यक है। अतएव धर्मपिपासु व्यक्तियों के लिये समाज की

अवहेलना या अवमानना करना किसी प्रकार वाञ्छनीय नहीं। समाज के रीतिरिवाज में अपने विचार से कतिपय दोषों को देखने पर तत्क्षण समाज का विद्रोही बन जाना उचित नहीं। अपने विचार पर यदि आस्था हो तो और लोगों को उन दोषों को दिखाकर अपने मत में लाकर, उसके संस्कार करने का प्रयत्न किया जा सकता है।

व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन

शिष्य ने फिर निवेदन किया कि ऐसे अनेक ब्राह्मण देखे जाते हैं, जिनके आचारण से घृणा होती है, एवं ऐस अनेक शूद्र देखे जाते हैं जिनका उन्नत चरित्र और धर्ममय जीवन देखकर पद्धूलि ग्रहण करने की इच्छा होती है; तथापि क्या समाजरीति के वशीभूत होकर उन ब्राह्मणों को ऊँचा और शूद्रों को नीचा स्थान देना होगा ? गुरुदेव ने कहा कि व्यक्तिगत रूप से कोई शूद्र किसी ब्राह्मण की अपेक्षा सब विषयों में उन्नततर हो सकता है, एवं अधिक भक्ति, श्रद्धा का पात्र हो सकता है इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जो लोग समाज के अन्दर रहते हैं, एवं अनेक विषयों में मंगलामंगल के लिए समाज के ऊपर निर्भर रहते हैं, उनके लिये केवल व्यक्तिगत जीवन देखकर सामाजिक जीवन की उपेक्षा करना ठीक नहीं क्योंकि, वह यद्यपि आपात दृष्टि से किसी-किसी क्षेत्र में धर्मसंगत जान पड़ता है , तथापि सब तरफ से विवेचना करने पर उससे कल्याण का मार्ग उन्मुक्त न होकर कंटकाकीर्ण होने की ही सम्भावना रहती है । सनातन हिन्दू धर्म और समग्र हिन्दू समाज की ओर से विचार करने पर ब्राह्मण श्रेणी शूद्र श्रेणी की अपेक्षा उन्नततर मानी गई है । सुतरां व्यक्ति हिसाब से किसी शूद्र का जीवन किसी ब्राह्मण सन्तान के जीवन की अपेक्षा भले ही उन्नततर हो, परन्तु सामाजिक हिसाब से ब्राह्मण समाज के अङ्गीभूत व्यक्ति शूद्र समाज के अङ्गीभूत व्यक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं माने जाते। व्यावहारिक जीवन में केवल व्यक्तिगत दृष्टि की अवहेलना करने से नाना प्रकार की विश्रृङ्खला और धर्मविघ्न की सम्भावना होती है । व्यक्तिगत भाव से कोई ब्राह्मण किसी शूद्र की मन में पूजा भी कर सकता है, उसकी पदधूलि या प्रसाद ग्रहण का इच्छुक भी हो सकता है किन्तु सामाजिक व्यवहार में समाज विधान की ओर दृष्टि

रखकर कर्तव्य निर्धारण करना आवश्यक है। जब तक समाज उस ब्राह्मणोचित गुणसम्पन्न शूद्र को ब्राह्मण नहीं मान लेता, अथवा उसे अनुन्नत ब्राह्मण सन्तानों का नमस्य नहीं स्वीकार करता, तब तक मन ही मन उसको प्रणाम करने पर भी, एवं मनसा वाचा कर्मणा उसके प्रति यथेष्ट श्रद्धाभक्ति प्रदर्शन करने पर भी कार्यत: उनकी पदधूलि या तत्प्रदत्त उच्छिष्टान्न न ग्रहण करना ही ब्राह्मण वंशोद्भव व्यक्तियों के लिए संगत होगा। जिनके पास इतनी शक्ति नहीं है कि, समाज के अन्दर किसी उच्चतर नीति का प्रवर्तन कर सके, तथापि जिनके लिए समाज के साथ रहना भी आवश्यक है, वे दुर्वल व्यक्ति यदि समाजानुमोदित मार्ग के विरूद्ध व्यवहार करेंगे, तो अनेक समय उन्हें कपटाचार का आश्रय लेना पड़ेगा, छिपे तौर पर कभी-कभी समाजनीति-विगर्हित किन्तु विचारसंगत कार्य करके भी समाज के दवाव में उसे प्रकाश्यरूप में अस्वीकार करना पड़ता है, एवं अनेक क्षेत्रों में अनेक असुविधायें और निष्पीड़न सहन करना पड़ता है। उन्हें सामाजिक रीति-नीतियों का अनुवर्तन करते हुए ही विचारपूर्वक सन्मार्ग पर चलना चाहिए।

ज्ञानभक्ति के क्षेत्र में वर्णभेद नहीं

बाबा गम्भीरनाथ जी के शिष्यों में विभिन्न श्रेणी के धर्म-पिपासुगण थे, एवं दीक्षाप्रदान के विषय में वे उनके बीच किसी प्रकार का भेद नहीं रखते थे। अध्यात्मसाधना के क्षेत्र में वे व्यक्तिगत अधिकार का ही विचार करते थे। निम्न वर्ण में जन्म होने के कारण अथवा स्त्रीयोनि प्राप्ति के कारण वे किसी को भी तत्वज्ञान प्राप्ति का अनधिकारी नहीं समझते थे। सामाजिक कर्मक्षेत्र में ही वर्णभेद है, भक्ति और ज्ञान के क्षेत्र में केवल व्यक्तिगत अधिकार ही विशेषरूप से विवेच्य होता है। कोई व्यक्ति निम्नतम वर्ण में जन्म ग्रहण करके भी साधन बल से अत्युन्नत आध्यात्मिक अवस्था प्राप्त कर सकता है, एवं उच्चतम कुल में जन्म लेकर भी अनुशीलन के अभाव से और प्रवृत्ति की वश्यता में पड़कर भक्ति और ज्ञान के क्षेत्र में नितान्त निकृष्ट अवस्था में पतित हो सकता है। सामाजिक सुश्रृङ्खला के संरक्षण, एवं धर्मसाधना में सुयोग प्राप्ति और विघ्नपरिहार के उद्देश्य से समाजविधि का अनुवर्तन करते हुए लौकिक क्षेत्र

में चाहे जैसा भी व्यवहार भले ही आवश्यक हो, भक्ति और ज्ञान के विकास के तारतम्यानुसार ही मनुष्य जीवन का यथार्थ उत्कर्षापकर्ष निर्धारण करना होगा। निम्नकुल में उत्पन्न होने के कारण किसी को निष्कृष्ट एवं उच्च कुल में उत्पन्न होने के कारण किसी को श्रेष्ठ समझना अज्ञानता का परिचायक है। बाबा जी ने अपने निम्नकुलजात किसी किसी शिष्य के निकट ऐसे अनेक साध्य-साधनरहस्यों को प्रकाशित किया था, जिसको प्राप्त करने के लिये उनके अनेक उच्चकुलसंभूत शिष्य भी अधिकारी नहीं समझे गये थे। ब्राम्हण यदि शूद्रादिकों की अपेक्षा अपने सामाजिक वैशिष्ट्रय की रक्षा करने के प्रयत्न में अपने को मनुष्यत्व के नाते बड़ा समझ कर अभिमान करने लगे, तो यह उसका भ्रम ही होगा, एवं उसका अन्तःकरण संकीर्ण और मलिन होकर अध्यात्म क्षेत्र में और भी अधोगति प्राप्त होगा, दूसरी ओर इस अभिमान और संकीर्णता से मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से यदि वह समाज का विद्रोही बन कर उनके साथ आहार व्यवहार आदि करके समान क्षेत्र में मिलित होना चाहे, तो ऐसा होने पर भी समाजद्रोह के कारण उसके धर्म जीवन में अनेक विघ्नों के आने की सम्भावना होगी। सुतरां समदर्शी होने के लिये समव्यवहारी होने की आवश्यकता नहीं होती। समदर्शन ही ज्ञान है, समव्यवहार नहीं।

किस प्रकार के विशेष क्षेत्र में किसप्रकार का आचरण करना चाहिए, इस विषय में वे शिष्यों को अपने अपने विचार के ऊपर ही निर्भर रहने का उपदेश देते थे। एक बार बड़ी आग्रह के साथ उनसे पूछा गया कि हमारे समाज की वर्तमान अवस्था में जाति-भेद मर्यादा की कहाँ तक रक्षा करना उचित है। इसके उत्तर में उन्होंने निर्देश दिया कि, समाज में जिसके हाथ का जल उच्च वर्णो के लिये अग्राह्य माना गया है, तो जब तक इस विधान का परिवर्तन न हो उनके साथ भी एक घर में बैठकर आहार करने में कोई दोष नहीं, भिन्न पंक्ति में बैठकर उनके स्पृष्ट अन्नजल को ग्रहण न करने से ही समाज और वर्णाश्रम के मर्यादा की रक्षा हो जाती है। गुरुगृह में गुरु भाइयों के साथ पंक्ति विचार की भी आवश्यकता नहीं होती। विलायत से लौटने वाले व्यक्ति के प्रति व्यवहार करने के सम्बन्ध में भी वे कहते थे कि जो शिक्षा उद्देश्य से अथवा

लोकहितकर किसी कार्य के अनुरोध से यूरोप अमेरिका आदि देशों को जाता है, वह यदि देश में लौटकर समाज का अनुवर्ती होकर जीवन परिचालन करने का इच्छुक हो, तो समाज में उसको आदरपूर्वक अपनी श्रेणी में ग्रहण करना संगत होगा किन्तु सभी स्थलों में सदाचार की ओर लक्ष्य रखना आवश्यक है। जो लोग असदाचारी और व्यभिचारदुष्ट होते हैं उनसे यथा सम्भव दूर रहना ही कल्याणकारी होता है। ऐसे लोग चाहे जिस वर्ण में उत्पन्न हुए हों, उनके साथ एकत्र शयनभोजनादि करने से और घनिष्ट रूप से मेल जोल करने से अलक्षित रूपसे पाप संक्रामित होता है और जीवन कलुषित हो जाता है। समाज की मर्यादा की रक्षा करते हुए आध्यात्मिक कल्याण की ओर निर्निमेष दृष्टि रख कर ही लौकिक व्यवहार का मार्ग निर्देश करना आवश्यक है।

सामाजिक व्यवहार में जिन स्थलों में वैषम्य की रक्षा आवश्यक होती है, उन स्थलों में सर्वदा विचारशील अन्तःकरण से स्मरण रखना चाहिए कि, प्रचलित शास्त्र और लोकाचार के प्रति श्रद्धा पूर्वक ही इस व्यावहारिक वैषम्य की रक्षा की जा रही है, वैषम्य के प्रति आसक्तिवश नहीं, रागद्वेषघृणाभिमानादि के वश नहीं। व्यावहारिक वैषम्य यदि दृष्टिवैषम्य उत्पन्न करके सर्वत्र भगवद्दर्शनाभ्यास का विघ्न बन जाय और राग-द्वेष, घृणा अभिमान संकीर्णता आदि चित्तविकार उत्पन्न करे, तभी मनुष्यत्व विकास का मार्ग रूद्ध हो जाता है, आध्यात्मिक जीवन अन्धकारमय हो जाता है। तब तो यह समाज श्रद्धा का निदर्शन नहीं, प्रत्युत आभ्यन्तरीण कलुषता का ही निदर्शन होता है। सुतरां बाहर व्यवहारशास्त्र और लोकाचार का अनुवर्ती बन कर देशकाल पात्रोचित व्यवहार ही करना चाहिए, किन्तु अन्तर में मनुष्यमात्र को ही श्रद्धा और सहानुभूति के निगाह से देखना चाहिये, सबकी यथोचित सेवा में प्रवृत्त रहकर कृतार्थ होने का प्रयत्न करना चाहिये, सबके भीतर भगवान का विकास देखने की चेष्टा करनी चाहिये, प्रेमपूर्ण हृदय से सबका आलिङ्गन और भक्ति नम्रशिर से सबको मन ही मन प्रणाम करना चाहिये।

नवमोपदेश

गुरुतत्त्व

ॐ नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने ।
निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥

योगिराज गम्भीरनाथ जी गुरु शिष्य सम्बन्ध विषयक जिज्ञासा के उत्तर में दो प्रकार का उपदेश प्रदान किये थे। एक प्रकार के उपदेश का मूलसूत्र यह था कि, 'शास्त्र में लिखा है कि, गुरु ईश्वर की अपेक्षा भी श्रेष्ठ होता है, शिष्य का गुरु ही सर्वस्व है, गुरु के प्रति एकनिष्ठा भक्ति होने पर और किसी प्रकार की आराधना की आवश्यकता नहीं रहती, गुरु शिष्य का ज्ञानदाता और मुक्तिदाता होता है।' दूसरे प्रकार के उपदेश का मूलसूत्र यह है कि, 'गुरु शिष्य का उपदेष्टा और साहाय्यकारी होता है, शिष्य यदि पुरुषकारावलम्बन पूर्वक गुरुपदेश का अनुवर्तन न करे तो गुरु कुछ भी नहीं कर सकता, मुक्ति घोलकर पिला देने की वस्तु नहीं है कि गुरु उसे शिष्य को पिला देगा, शिष्य यदि जिज्ञासु हो तो गुरु उसको उपदेश दे सकता है, शिष्य का चित्त यदि सन्देहपूर्ण हो तो गुरु उसका अपनोदन कर सकता है, उपदेश के अनुसार साधन भजन और जीवन परिचालन करना या न करना शिष्य के ही स्वाधीन इच्छा के ऊपर निर्भर करता है, सिद्धि की प्राप्ति शिष्य के ही साधनासपेक्ष है, शिष्य अपने अधिकार के अनुसार ही गुरु कृपा का अनुभव करता है।'

जिज्ञासु के संस्कार, अधिकार, अभिप्राय के अनुसार उत्तर

योगिराज जी प्रश्नकर्ता के संस्कार, अधिकार और अभिप्राय का अनुसरण करके कभी तत्त्वदृष्टि से, कभी साधनदृष्टि से अथवा कभी आदर्शदृष्टि

से उपदेश प्रदान करते थे। कोई किसी एक उपदेश को सुनकर यदि यह समझ ले कि यही उनका मत या सिद्धान्त है तो वह उनके उपदेश का तात्पर्य समझने से बञ्चित ही रह जाता है। अनेक क्षेत्रों में यह देखा गया था कि वे एक ही प्रश्न के उत्तर में एक ही समय में विभिन्न शिष्यों को तथा एक ही शिष्य को विभिन्न समयों में विभिन्न प्रकार का उपदेश प्रदान करते थे। इस प्रकार की विभिन्नता का कारण निर्णय एवं विभिन्न आकारों में उपस्थित सत्य की स्वरूपोपलब्धि को जो आवश्यक समझेगा, उसको शास्त्रविचार और ध्यान के प्रकाश में प्रथमतः अपनी बुद्धि को कुसंस्कार और संकीर्णता के अन्धकार से बहुत कुछ मुक्त कर लेना होगा, एवं इस प्रकार माजित और आलोकित बुद्धि यदि शास्त्र विचार और ध्यान की सहायता से श्रद्धापूर्वक उन उपदेशों के अभ्यन्तर में प्रवेश करके उनके समन्वय सूत्र का आविष्कार करने में समर्थ हो तो फिर कोई संशय उत्पन्न नहीं होगा।

उभय प्रकार के उपदेश की सार्थकता

योगिराज जी के गुरु शिष्य सम्बन्धी प्रथम उपदेश के भीतर गम्भीर तत्त्व निहित हैं, एवं शिष्य के सम्मुख एक महान आदर्श उपस्थित किया गया है। दूसरे प्रकार के उपदेश से उन्होंने साधना का प्राधान्य निर्देशपूर्वक शिष्यों के मनुष्योचित स्वाधीन, अनन्य मुखापेक्ष पुरुषकार जागृत किया है, एवं जीवन में आदर्श को सत्य कर लेकर चरमतत्त्व में प्रतिष्ठित होने के लिए उनको यथाशक्ति प्रयत्नपरायण होने को उत्साहित किया है। इन दोनों उपदेशों को समन्वित करके जीवन में प्रतिफलित कर सकने पर शिष्य का सर्वांगीण कल्याण हो सकता है।

एक भगवान् का द्विविध भाव, ईश्वरभाव और गुरुभाव

'गुरु ईश्वर की अपेक्षा श्रेष्ठ'-इस उपदेशांश के भीतर निहित गंभीर तात्त्विक रहस्य को प्रथमतः शास्त्रदृष्टि से हृदयङ्गम करना आवश्यक है। गुरु तथा ईश्वर स्वरूपतः अभिन्न हैं, तो भी गुरु ईश्वर की अपेक्षा गरीयान् है। शास्त्रों में निर्णीत हुआ है कि एक अद्वितीय मायाधिपति सर्वजीवनियन्ता श्रीभगवान् मायाधीन जीव के निकट दो विभिन्न भावों में अपने को प्रकट करके चिरकाल

वर्तमान रहते हैं अर्थात् ईश्वरभाव में और गुरुभाव में। ईश्वरत्व उनका एकतर भाव और गुरुत्व उनका अन्यतर भाव है, एवं ये दोनों ही भाव नित्य हैं। विचारशील मानव अनादि अनन्त काल से उनके उभयविधभाव को ही अनुभव करते आते हैं।

मायाशक्ति की दो मूर्तियाँ, विद्या और अविद्या

इन द्विविध भावों के मूल में उनकी अनिर्वाच्या सनातनी मायाशक्ति का द्विविध प्रकाश है। मायाशक्ति द्विविध मूर्ति में अभिव्यक्त होकर विश्व व्यापार का परिचालन करती है और जीव का बन्धन मोक्ष विधान करती है। एक उनकी अविद्यामूर्ति है और एक उनकी विद्यामूर्ति है। सुतरां मायावी भगवान् एक ओर जिस प्रकार अविद्याधीश है, दूसरी ओर उसी प्रकार विद्याधीश है। उनकी अविद्याशक्ति आवरणविक्षेपात्मिका है; अविद्या बहुत्व प्रसविनी संसारजननी है, और विद्या अद्वैत प्रकाशिनी मोक्षविधायिनी है; अविद्या ऐश्वर्यमयी बहिरंगा शक्ति है और विद्या माधुर्यमयी अन्तरंगा शक्ति है। मायाधीश लीलामय भगवान् अविद्यामाया का इन्द्रजाल विस्तार करके अनादि काल से अपने को असंख्य नाम रूपों में प्रकट करते हैं, प्रतिकल्प में इस अनन्त वैचित्त्यमय विराट् विश्वभुवन की सृष्टि करके कल्पान्त में फिर उसे अपने अंग में विलीन कर लेते हैं, जीव के पारमार्थिक स्वरूप को आवृत्त करके उसको नानाविध वासना और तज्जनित कर्मों की अधीनता श्रृङ्खला में आबद्ध करते हैं, एवं जन्म-मृत्यु-भोगादिरूप उतङ्गतरंग परम्पराविक्षुब्ध संसार समुद्र के बीच गिरा कर नाना प्रकार से जर्जरित करते हैं। दूसरी ओर फिर वे ही अनादि काल से विद्या शक्ति की ज्ञानमयी दीप्ति के विकास द्वारा अविद्या का जाल दग्ध करने में निरत रहते हैं विश्व के सम्पूर्ण वैषम्य को नष्ट करके सर्वत्र एक अखण्डिता सच्चिदानन्दमयी सत्ता का प्रकाश दिखलाते हैं, जीव को उसके पारमार्थिक स्वरूप का आस्वादन कराकर वासना और कर्म के बन्धन से मुक्तिदान तथा संसार समुद्र से उद्धार करते हैं।

इस प्रकार बनाना-बिगाड़ना, आवरण-प्रकाश, बन्ध-मोक्ष विधान ही भगवान् की लीला है। वे द्विविध शक्तियाँ परस्पर एक दूसरे का आलिङ्गन करके अभिव्यक्त होती हैं, इसीलिये जगत् में चिरकाल से अन्धकार के साथ अमृत,

बन्धन के साथ मुक्ति, अज्ञान के साथ ज्ञान, आसुरभाव के साथ दैवभाव, प्रवृत्ति के साथ नवृत्ति, आसक्ति के साथ औदासीन्य, भोग के साथ त्याग, स्वार्थपरता के साथ परसेवा में आत्मोत्सर्ग सम्मिलित होकर एक अपूर्व साम्य और सौन्दर्य का विधान करते हैं।

श्रीमद्भागवत में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण शरणागत शिष्य और भक्त उद्धव के निकट अपने इस लीलामय स्वभाव को व्यक्त करते हैं-

विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् ।
मोश्रवन्धनकरी चाद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥

हे उद्धव ! विद्या और अविद्या मेरी ही दो देह हैं। (मैं ही इन दोनों शक्तियों के विकास में अपने को प्रकट करता हूँ)। विद्या जीवों की मोक्षविधायिनी और अविद्या बन्धनकारिणी है। दोनों ही अनादि हैं। ये दोनों मेरी मायाशक्ति के द्विविध प्रकाश हैं। श्वेताश्वर उपनिषद कहता है-

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढ़े ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥

अप्रच्युतस्वरूप परब्रह्म में दो सनातनी शक्तियाँ निगूढ़रूप से निहित हैं- विद्याशक्ति और अविद्याशक्ति। अविद्या संसार की हेतु है और विद्या अमृत्व की । विद्या आर अविद्या के जो अद्वितीय अधीश्वर हैं, वे ही बन्धमोक्षातीत परमात्मा भगवान् हैं।

अविद्याधीश ईश्वर और विद्याधीश गुरु

इन द्विविध शक्तियों के वीच अविद्याशक्ति भगवान् के अपरिमेय ऐश्वर्य का परिचय, एवं विद्याशक्ति उनके अनुपम गौरव का परिचय प्रदान करती है। अविद्यामाया के अधिष्ठातृ रूप में भगवान् सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सृष्टिस्थितिप्रलयकर्ता अनन्तैश्वर्यसम्पन्न विश्वाधार विश्वनियन्ता, विश्वरूप ईश्वर हैं, एवं विद्यामाया के अधिष्ठातृ रूप में प्रेममय करूणानिधि मंगलाधार ज्ञानप्रदाता मुक्तिविधाता आनन्द वितरणकर्ता महामहिमान्वित परमसुन्दरकान्ति सद्गुरु हैं। अविद्याशक्ति भगवान् की ऐसी शक्ति है, एवं विद्याशक्ति उनकी गुरुशक्ति हैं। भगवान् अनादि अनन्तकाल से अपनी अविद्यामाया और विद्यामाया का विस्तार

करके ईश्वररूप से और गुरुरूप से लीला कर रहे हैं। यही उनका स्वभाव है। ''स्वभाव एष देवस्य आत्मकामस्य का स्पृहा'' (गौड़पादकारिका) भगवान् ही ईश्वर हैं एवं भगवान् ही गुरु हैं। सुतरां ईश्वर और गुरु स्वरूपतः अभिन्न हैं।

ईश्वर की अपेक्षा गुरु का श्रेष्ठत्व

यद्यपि ईश्वर और गुरु स्वरूपतः अभिन्न हैं तथापि ईश्वर की अपेक्षा गुरु श्रेष्ठ होता है अर्थात् भगवान् के ईश्वर भाव की अपेक्षा उनका गुरुभाव अधिकतर महीयान् होता है। उनकी ऐश्वरिक लीला के भीतर प्रेम, करुणा, सौन्दर्य, माधुर्य आदि जीवचित्ताकर्षक उत्कृष्ट गुणों का विशेष परिचय नहीं प्राप्त होता, किन्तु उनकी गुरुशक्ति के भीतर इन सब गुणों का समुज्ज्वल प्रकाश होता है। ''ईश्वर दयामय है या नहीं ?'' इस प्रश्न के उत्तर में योगिराज गम्भीरनाथ जी कभी-कभी कहते थे कि, ईश्वर दयामय नहीं है, वह केवल कर्मफल विधाता है। तत्वतः ही ईश्वर को दयामय नहीं कहा जा सकता, दयामय होता है गुरु। अविद्याधिपति ईश्वर ज्ञानशक्ति और ऐश्वर्य की पराकाष्ठा में नित्य प्रतिष्ठित है सही, किन्तु उसे दयामय कहने का कोई विशेष कारण निर्दिष्ट नहीं हो सकता। वे सुख-दुख मोहमय संसार के स्रष्टा और नियन्ता हैं, वे जीव के सुख-दुख मोहातीत सच्चिदानन्द स्वरूप को आवृत करके उसको संसाराधीन बना देते हैं, उन्हीं की अविद्या के प्रभाव से मुग्ध जीव वासनावासित चित्त से जिन पुण्य पापात्मक कर्मों में लिप्त हो जाता है, उसी के अनुसार पुरस्कार और दण्ड के स्वर्णमय और लौहमय श्रृङ्खला में आबद्ध करके वे उसे संसार कारागार में इतस्तः डालते रहते हैं। इनमें उनके दया का निदर्शन कहाँ है ? उनके प्रति आकृष्ट होने, भक्ति और प्रेम के साथ उनके चरणों पर आत्मसमर्पण करने का, निष्काम और सानन्द चित्त से उनकी लीला और गुणों का स्मरण, कीर्तन और आस्वादन करके अपने को सरस और कृतार्थ समझने का क्या कोई कारण दिखता है ? उनकी शक्ति असीम, दृष्टि सर्वत्रगा, न्यायशासन कठोर, और राजत्व विश्वव्यापी है, सुतरां विचारशील मानव अपनी दुर्बलता और अनन्याश्रयता को समझ कर दण्ड के भय तथा पुरस्कार के लोभ से उनके शरणागत होकर उनकी पूजा और स्तवस्तुति करने में प्रवृत्त हो सकता है, एवं पाप कार्य से विरत

तथा पुण्यकार्य में प्रवृत्त हो सकता है। विश्व की सृष्टि और पालन कार्य में उनकी अद्भूत क्षमता ज्ञान और कौशल का परिचय पाकर क्षुद्र ज्ञानशक्तिविशिष्ट मनुष्य विस्मयाभिभूत होकर उनके निकट नतशिर हो सकता है तथा दूर से बार-बार उनको प्रणाम कर सकता है। किन्तु इससे मानव हृदय प्रस्रवण की स्वभावनिर्गलित प्रेम भक्तिधारा उनके अभिमुख प्रवाहित नहीं होती, मानव हृदय उनसे प्रेम करके कृतार्थ नहीं होता, उनको अपना मानने का अनुभव नहीं कर सकता और, उनके अन्दर कोई ऐसी चीज नहीं देख पाता जिसे देखने से वह मग्न हो जाय, सब कुछ छोड़कर अपने को उनके चरणों पर निछावर कर दे।

गुरु शक्ति की महिमा

भगवान् की प्रेममयी, करुणामयी, माधुर्यमयी मूर्ति का परिपूर्ण विकास उनकी गुरुभाव की लीला में, विद्याशक्ति की अभिव्यक्ति में होता है। भगवान् गुरु रूप में ही अहैतुक कृपा सिन्धु हैं, ईश्वर रूप में नहीं। गुरु रूप में वे सुख दुख मोहमय संसार के स्रष्टा नहीं हैं; अपितु निरोधयिता हैं, कर्म फलदाता नहीं हैं, कर्मफल मुक्तिदाता हैं, असीम शक्तिशाली विपुल ऐश्वर्यशाली विराट् पुरुष नहीं हैं, अनन्त प्रेममय जीवचित्ताकर्षक प्रभु हैं। गुरु अविद्यान्धी भूत संसार निमज्जित सुखदु:खमोहजर्जरित जीव के चक्षु को ज्ञानाञ्जनशलाका द्वारा उन्मीलित करके उसके सुखदु:खमोहातीत सर्वबन्धनविवर्जित सच्चित्परमानन्दघन पारमार्थिक स्वरूप को प्रकाशित करते है, एवं उसको सब कर्म और कर्मफल से मुक्त कर देते हैं। ईश्वर के समान वे जीव को आत्मपराङ्मुख करके अपने पास से दूर नहीं हटा देते, बल्कि उसको आत्मानुसन्धित्सु बना कर उसे अपने निकट खींच लेते हैं। अविद्या के प्रभाव से जीव उनके पास से जितना ही दूर चला जाता है, गुरु अपनी विद्याशक्ति की अनुप्राणना से उसको निकट ले आने के लिये उतनी ही स्थूलमूर्ति धारण करके उसके सम्मुख उतर आते हैं। ईश्वर रूप में भगवान् जीव को नियति के अधीन रख कर और उसके कर्मानुसार दण्ड पुरस्कार का विधान करके उसके परिणाम के सम्बन्ध में औदासीन्य अवलम्बन पूर्वक अपने धाम में स्थित रह सकते हैं; किन्तु गुरु रूप में वे जीव को सर्वदा

देखते रहते हैं, जीव को कृतार्थ करने के लिये नाना प्रकार से उसका आह्वान करते हैं, जीव को निज शुद्ध बुद्ध मुक्त अपापविद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित करने के लिये नित्य-निरन्तर आकृष्ट करते हैं। उनकी गुरु शक्ति उनका जीव के निकट अवतरण कराती है, एवं जीव को आकर्षण करके उनके साथ सम्मिलित करती है। गुरुशक्ति ही जीव और भगवान् का ऐक्य सम्पादन करके जीव जीवन की सम्यक् चरितार्थता और भागवती लीला की सम्यक् परिपूर्णता सम्पादन करती है।

गुरु शक्ति के अचिन्त्य प्रभाव से भगवान् का न्याय दण्ड प्रेम के निकट पराभूत हो जाता है, ऐश्वर्य माधुर्य में छिप जाता है और सृष्टि स्थिति प्रलय कर्तृत्व-ज्ञान-भक्ति प्रदातृत्व द्वारा अभिभूत हो जाता है। गुरु शक्ति के सुमधुर आकर्षण से ही जीव का हृदय विगलित तथा प्रेमभक्ति की सुनिर्मल धारा रूप में परिणत होकर ज्ञान परिणत होकर ज्ञान प्रेमनिधि भगवान् के साथ मिलित होने के लिए प्रवाहित होने लगता है। भगवान् की गुरुभावमयी प्रेम लीला का स्मरण मनन कीर्तन और आस्वादन करते-करते ही जीव का चित्त उनके प्रति आकृष्ट होता है तथा उनके निकट आत्मनिवेदन करके कृतार्थ होना चाहता है। जिन गुणों को देख सकने पर अपने आप जीव के अन्तःकरण में श्रद्धा भक्ति प्रेम जागृत होता है, ऐहिक और पारत्रिक सब प्रकार की भोग सम्पत्तियों का विसर्जन करके उनके चरणों पर अपने को निछावर कर देने की आकांक्षा उत्पन्न होती है, उनका ही देहेन्द्रियमन बुद्धि के सर्वस्व रूप में अनुभव होता है, यह सभी भगवान् की लीला के भीतर समुज्ज्वल रूप से प्रकाशित दिखाई पड़ता है। सुतरां जीव के निकट ईश्वर की अपेक्षा गुरु अनन्त गुण गरीयान् होता है। तत्वविचारशील भक्तिपूत हृदय मानव मात्र ही समझ सकता हैं कि, ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य श्रेष्ठ है, न्याय के विधान की अपेक्षा प्रेम का विधान श्रेष्ठ है, कर्मफल विधातृत्व की अपेक्षा कर्मवन्धन मोचयितृत्व श्रेष्ठ है, भीत्युत्पादन की अपेक्षा भीतिनिवारण श्रेष्ठ है और सृष्टि स्थिति प्रलय की क्षमता की अपेक्षा ज्ञानभक्ति वितरण की क्षमता श्रेष्ठ है। भगवान् अपनी श्रेष्ठतमा अन्तरङ्गा शक्ति के साथ युक्त होकर ही गुरु होते हैं, एवं बहिरङ्गा शक्ति के योग में ईश्वर।

गुरु शक्ति का प्रताप

प्रताप की तुलना में भी गुरु की शक्ति को ईश्वर की शक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना पड़ेगा। विद्या शक्ति यदि अविद्या शक्ति की अपेक्षा अधिक प्रभावशालिना न होती, तो जीव के लिए किसी भी काल में मुक्ति की सम्भावना न होती, जगत् में साम्य की प्रतिष्ठा सम्भव न होती। मुक्त जीव कभी बद्ध नहीं होता है, बल्कि बद्ध जीव को अविद्या के कवल से उद्धार करते हैं, किन्तु विद्या में प्रतिष्ठित मुक्त पुरुष को ईश्वर कभी अविद्या शक्ति से बन्धन में नहीं डालते। विश्व जगत् के सनातन विधान का तत्वानुगत सूक्ष्मदृष्टि से पर्यालोचना करने से ही ज्ञात होता है कि, अविद्या के राजत्व में भी विद्याशक्ति का ही सर्वत्र जय होता है, भगवान् गुरु शक्ति द्वारा सर्वत्र ही अपने ऐश्वरिक प्रभाव को खर्च करके जगत् में ज्ञान, प्रेम और धर्म की प्रतिष्ठा करते हैं, सर्वत्र ही गुरु के निकट ईश्वर का पराभव प्रमाणित होता है। भगवान् अपनी ऐश्वरी शक्ति की अपेक्षा प्रेममयी अन्तरंगा गुरु शक्ति को नित्य के लिये श्रेष्ठ आसन प्रदान कर रक्खे हैं, इसीलिए मानव आपात-विभीषिकामय संसार द्वारा परिवृत रहकर भी उसको करुणामय मंगलालय माधुर्यनिधि परम सुन्दर हृदयदेवता मानकर आराधना करता है, एवं कालक्रम में उनकी गुरु शक्ति से तन्मय होकर अविद्या के राज्य का सम्पूर्ण रूप से अतिक्रम करके उनके सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

अविद्या के संसार में विद्या का प्रादुर्भाव

परम कल्याणमयी गुरु शक्ति जीव समूह को अविद्या के अन्धकार से बाहर निकाल कर परमानन्द धाम में प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से सृष्टि के आरम्भ से ही नाना रूपों में ज्ञानज्योति विकीर्ण कर रही है। अविद्या के संसार में जो कर्मफल विधान जीव को स्वकृत कर्मों के लिए दण्ड और पुरस्कार ग्रहण करने को बाध्य करता है, उसके भीतर भी गुरु शक्ति अपना प्रभाव अनुस्यूत किए रखती है। गुरु शक्ति की कृपा से कर्मफल केवल पूर्वकृत कर्मानुसार दण्ड या पुरस्कार नहीं है, परमानन्द धाम की ओर सुतीव्र आकर्षण, पापपथ परिहार,

और धर्म पथ के अवलम्बन के लिये प्रबल ताड़ना है। करुणानिधान गुरु अविद्यांधकारग्रस्त कर्मक्षेत्र में पाप के साथ दुःख का और धर्म के साथ आनन्द का अविच्छेद्य सम्बन्ध नियत करके तत्वदृष्टिविहीन जीवों को भी दुःखनिवृत्ति और आनन्द प्राप्ति की आकांक्षा से पापप्रवृत्ति के विरूद्ध युद्ध और धर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होने के लिए चिरकाल से प्रबल रूप में प्रेरणा और उत्साह प्रदान कर रहे हैं। प्रेममय का प्रेम कठोराकृति कर्मनीति के अन्दर भी अनुप्रविष्ट रहता है। जीव प्रकृति के भीतर सूक्ष्म रूप में ज़ो परमकल्याणप्रद और महागौरवास्पद गुण और शक्तियाँ विद्यमान हैं, उनके क्रमविकास द्वारा जीव जीवन की सर्वांगीण पूर्णता सम्पादन के लिए कर्मक्षेत्र में नाना प्रकार की अनुकूल शक्तियों के साथ संग्राम दुःखादि का भोग अति आवश्यक है, एवं इसी उद्देश्य से जीव के साधन क्षेत्र इस जगत में इन सबका विधान है। अविद्या प्रसूत सब प्रकार की मलिनता को दुग्ध करके जीव को निज महिमा में प्रतिष्ठित करने के निमित्त ही गुरु शक्ति की यह व्यवस्था है।

जीव के अन्तर में चैत्य गुरु

अविद्या प्रभाव से मानव का मलिन अन्तःकरण बहुमुखी वासना द्वारा चालित होकर भोग के मार्ग पर प्रवृत्त होता है और बन्धन दशा को प्राप्त होता है; जीव कल्याणव्रती गुरु उस वासनावासिन अन्तःकरण के भी अन्तर्यामी चैत्यगुरु रूप से विराजमान रह कर नित्य निरन्तर स्फुट या अस्फुट रूप से धर्म और त्याग के माहात्म्य के सम्बन्ध में उसे सजग करते रहते हैं और मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होने के लिये भीतर से प्रेरणा प्रदान करते हैं। मानव मात्र के हृदय में सत्य और प्रेम, पवित्रता और साधुता, त्याग और वैराग्य के प्रति एक सहज अनुराग देखा जाता है, मनुष्य अधर्म के मार्ग पर प्रवृत्त होने के समय भी जो भीतर से एक बाधा और संकोच का अनुभव करता है, एवं पापाचरण द्वारा भोग की सुविधा प्राप्त करने पर भी प्राणों में जो एक अनुशोक और अशान्ति बोध करता है, धर्म मर्यादा उल्लंघनकारी भोगासक्त व्यक्तिगण भी जो भीतर ही भीतर धर्मप्राण सत्यनिष्ठ प्रेमी भगवद्भक्त, त्यागी महात्माओं के प्रति श्रद्धा और संभ्रम के साथ नतशिर हुए बिना नहीं रह सकते, इसके मूल में भी

उसी अन्तर्यामी गुरु की अहैतुकी करुणा है, उनकी प्रेममयी विद्याशक्ति की शुभ प्रेरणा है।

गुरुशक्ति की अनुप्राणना से ही भगवान् का अवतार होता है

लीलामय भगवान् के सनातन विश्वविधान के अनुवर्तन क्रम से ही मानव समाज में आपातदृष्टि से कभी अविद्या का प्रभाव एवं कभी विद्या का प्रभाव प्रबल जान पड़ता है, कभी भगवान् की स्वयं ज्योति विद्यातनु को आच्छादित करके आवरणविक्षेपात्मिका अविद्यातनु मेघ के समान मानव समाज को ग्रास करने के लिए अग्रसर होती है और कभी विद्यातनु अपनी ज्ञान ज्योति के तेज से अविद्यामेघ का आपेक्षिक विलय करके अपनी महिमा से मानव समाज को आलोकित करती है। जिस समय अविद्या प्रभाव से अधर्म का अभ्युत्थान और धर्म की ग्लानि पृथ्वी को भाराक्रान्त कर देती है, जब पापग्रस्त हृदय असुरभाव पन्न मानवगण प्रबल होकर दम्भ के साथ पृथिवी के ऊपर आधिपत्य करने लगते हैं, और दैवी सम्पद्संपन्न दुर्बल मनुष्यों को उत्पीड़ित और धर्मपथ भ्रष्ट करने के लिए अपनी आसुरी शक्ति का प्रयोग करते हैं, जब धर्मशक्ति की दुर्बलता के कारण हिंसा, विद्वेष, कलह आदि प्रश्रय पाकर नाना प्रकार की विशृङ्खलता उत्पादन पूर्वक समाज को छिन्न-भिन्न करने को उद्यत होते हैं, तभी विश्वाधीश भगवान् फिर अपनी गुरुशक्ति का अवलम्बन करके जगत् में अवतीर्ण होकर अविद्या की शक्ति को खर्व करके अत्याचार का प्रतिकार, आसुर भाव का दमन, साधु सज्जनों का तेजोवर्धन, समाज में शृङ्खलास्थापन और धर्म राज्य की प्रतिष्ठा करते हैं। प्रेममयी गुरु शक्ति की अनुप्राणना से ही भगवान् जीव के दुःख से करुणार्द्र होकर उनका अविद्याप्रसूत क्लेश जाल से उद्धार करने के लिए स्वयं जीवदेह ग्रहण करके उनके बीच अवतीर्ण होते हैं, एवं व्यावहारिक रूप से उनके सुख दुःख का अंश ग्रहण करके उनको परम कल्याण के मार्ग पर परिचालित करते हैं। भगवान् का अवतार ग्रहण उनके गुरुभाव की ही विशेष लीला है।

शास्त्र में गुरुशक्ति का प्रकाश

वेदोपनिषद् आदि शास्त्र रूप में भी भागवती गुरुशक्ति: प्रकट होकर मानव समाज को कल्याण का पथ प्रदर्शन करती है। अविद्या प्रभाव से भोगाभिमुखी प्रवृत्ति द्वारा चालित होकर मनुष्य जिस प्रकार सृष्टि के आदि से ही अपने को संसार बंधन में आबद्ध करता है, उसी प्रकार से गुरु कृपा से वेदादि शास्त्रों के अनुशासन चिरकाल से ही उनके बन्धन वृद्धिकरी प्रवृत्ति को संयत करके उन्हें मुक्ति का पथनिर्देश करते हैं, और उनके सम्मुख नाना प्रकार के आदर्श उपस्थित करके उनको अनवरत चरम सार्थकता की ओर आकृष्ट करते हैं। शास्त्र समूह भी गुरु शक्ति के प्रकाश एवं मानव के प्रति भगवान् के प्रेम और दया के निदर्शन हैं। गुरु शक्ति की ही अनुप्राणना से परिमार्जित और विक्षेपावरण निर्मुक्त विशुद्ध हृदय में ये सब शास्त्र प्रकाशित होते हैं, एवं आचार्य शिष्य परम्परा से मानव समाज के कल्याण के लिए विस्तार प्राप्त करते हैं।

तत्वज्ञान प्रदाता महापुरुषगण गुरुशक्ति के विशेष विग्रह हैं

जो सब मनुष्य गुरु शक्ति द्वारा अनुप्राणित होकर जीवन के सब विभागों को विद्यामय बनाकर अविद्यान्धकार से सम्पूर्ण रूप से मुक्त हो जाते हैं; एवं मानव समाज का कल्याणाकांक्षी होकर आचार और उपदेश द्वारा धर्म और ज्ञान को ज्योति विकीर्ण करते हुए जगत् में विहार करते हैं, वे ही जीवन मुक्त, जीवकल्याव्रती ब्रह्मभूत महापुरुषगण भागवती गुरुशक्ति के विशेष विग्रह हैं । ज्ञान प्रेममय विश्वगुरु भगवान् के साथ उनका कोई पार्थक्य नहीं रहता, उनके इन्द्रिय, मन, बुद्धि को सम्पूर्ण रूप से आविष्ट करके करूणानिधान गुरु ही उनके देहरूप पवित्र लीला के क्षेत्र में प्रकट होकर मनुष्यों के संसारबन्धन मोचन रूप लीला विलास करते रहते हैं । माध्यन्दिन श्रुति घोषणा करती है- "स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यममिसृज्य ब्रह्मभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा श्रृणोति ब्रह्मणेवेदं सर्वमनुभवति ।" ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष इस मर्त्य शरीर में अभिमान त्याग कर ब्रह्म के साथ सब प्रकार से एकीभूत होकर ब्रह्म के चक्षु

द्वारा दर्शन, ब्रह्म के श्रोत्रद्वारा ही श्रवण अर्थात् ब्रह्मभाव भावित होकर ही सब प्रकार का अनुभव करते हैं । उनके जीवन के सभी विभागों में ब्रह्म का ही प्रकाश होता है । श्रीमन् मध्याचार्य जी अपने वेदान्त भाष्य में एक प्राचीन स्मृतिवाक्य उद्धृत करके जीवनमुक्त की अवस्था का इस प्रकार वर्णन करते हैं :-

आदत्ते हरिहस्तेन हरिदृष्टयैव पश्यति ।
गृच्छेच्च हरिपादेन मुक्तस्यैषां भवेत् स्थितिः ॥

मुक्त पुरुष हरि के हाथों से ग्रहण करता है, हरि के नेत्रों से देखता है, हरि के चरणों से विचरण करता है, यही होती है मुक्त पुरुष की स्वाभाविक अवस्था । वह भगवद्भावाविष्ट होकर भगवान् के साथ अपने को इस प्रकार अभिन्न करता है कि उसके हस्तपादादि इन्द्रियाँ तक भगवान् की ही इन्द्रियाँ जान पड़ने लगती हैं, उसका देह भी भगवान् का देह अनुभूत होता है ।

श्रीमद्भागवत में प्रेममय नित्यगुरु भगवान् स्वयं कहते हैं -

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

साधुगण मेरे हृदय हैं एवं मैं साधुओं का हृदय हूँ । मेरे अतिरिक्त वे कुछ नहीं जानते, एवं मैं भी उनके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता ।

सुतरां अविद्यानिर्मुक्त भगवदगतदेहमनप्राण सम्यग्ज्ञानप्रतिष्ठ महापुरुषगण ज्ञान से ही विद्यामायाधिपति जीवानुग्रहतत्पर परमगुरु भगवान् के साथ अभिन्न रूप से विराजमान रहते हैं, एवं उनके जीवन के अन्दर से नित्या कल्याणमयी ज्ञानभक्तिप्रकाशयित्री गुरुशक्ति ही प्रकट होती है । इस प्रकार आचार्यों का देह जगद्गुरु के आत्मशक्ति-विकास का एक - एक विशेष आधार होता है

मानवदेह धारी सद्गुरु को भगवतस्वरूप समझना शिष्य का अवश्य कर्त्तव्य है ।

इसीलिए शास्त्र और तत्वविद्गण उपदेश देते हैं कि अहैतुक कृपासिन्धु विश्वगुरु भगवान् जिस आचार्य के देह का अवलम्बन करके जिस साधक के ऊपर विशेष रूप से कृपा करते हैं, अद्वितीया गुरुशक्ति जिस रूप में विशेषत: प्रकट होकर जिस अविद्याग्रस्त व्यक्ति के अन्तर्निहित आध्यात्मिक भाव और शक्ति को उद्बोधित और परिचालित करते हैं, जिस भगवद्भावाविष्ट तत्वदर्शी महापुरुष के संस्पर्श से और तत्वोपदेश से जिस संसार-ताप-संतापित ज्ञानामृत-पिपासु का ह्दय शीतल होता है, पिपासा की शान्ति होती है, संशय और भ्रान्ति का निरसन होता है, बन्धन छिन्न होता है, साध्य-साधना-तत्व-ज्ञानालोक से अन्त:करण उद्भासित होता है, उस साधक के लिये विशेष रूप से उसी आचार्य को सृष्टि-स्थितिं प्रलयकर्ता ईश्वर की अपेक्षा गरीयान् प्रेममय करुणामय मंगलमय सत्यशिव सुन्दरस्वरूप भगवान् समझना चाहिये। जब तक जगद्गुरु और निज गुरु की एकता का अनुभव नहीं होता, तब तक समझना चाहिये कि गुरु के साथ यथार्थ परिचय संस्थापित नहीं हुआ, गुरु को पहचाना नहीं गया । परमार्थोंपदेष्टा अध्यात्मशक्ति संचारकारी पाप-ताप-हारी आचार्य के भीतर सर्व-तत्वसारभूत विद्याभयतनु विश्वगुरु के परिपूर्ण प्रकाश की उपलब्धि करके उन्हीं को सर्वस्व मानकर और उन्हीं के चरणों पर आत्मसमर्पण कर सकने पर ही शिष्य निश्चिन्त हो जाता है, उसका मोक्षद्वार अपावृत हो जाता है । आचार्य यद्यपि व्यावहारिक रूप में मनुष्योचित आचरण-सम्पन्न मनुष्यदेहधारी व्यक्ति विशेष होता है, तथापि गुरु रूप में वे व्यक्ति विशेष नहीं होते, न एक विशेष तत्वज्ञानी महापुरुष ही होते हैं, अपितु मानवदेह में आविर्भूत सर्वान्तर्यामी विद्याशक्तिविलासी स्वयं भगवान् होते हैं । शिष्य को इसी बात की धारणा और उपलब्धि करने का प्रयत्न करना चाहिये कि जो अविद्याग्रस्त जीवों को अज्ञान जनित वासना और पाप ताप से उद्घृत करके परमानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित करने

के लिये चिरकाल से नाना प्रकार से अपनी विद्याशक्ति का प्रभाव फैलाते हैं, जो सब के अन्तर में अन्तर्यामी चैत्यगुरु रूप से विराजमान रह कर सर्वदा अविद्यामेध के अन्तराल से शुभ बुद्धि की प्रेरणा और ज्ञानशक्ति के उद्बोधन द्वारा, एवं अविद्याप्रसूत जगत् के भीतर भी मंगल विधाता रूप में विद्यमान रहकर कर्म और भोग के विधान के भीतर भी शुभ बुद्धि विकास की अनुकूल व्यवस्था द्वारा मानवगण को जान में या अनजान में सर्वक्लेशातीत विक्षेपावरण रहित मोक्षधाम की ओर आकर्षण करते हैं, वे ही प्रेमघनमूर्ति विद्यामायाधीश भगवान् अपने स्वयपगत गुरु भाव के विशेष प्रकाश द्वारा मेरे समान देहाभिमानी स्थूलदर्शी संसार-ज्वालाप्रपीड़ित जीव को कृतार्थ करने के लिये इस कल्याणमय परम पवित्र महापुरुष का विग्र धारण कर मेरे प्रत्यक्षगोचर हुए हैं, स्वयं मानवीय साधना का समुज्वल आदर्श प्रदर्शन करके मुझे मनुष्योचित पुरुषाकार का प्रयोग करने केलिये प्रोत्साहित करते हैं, तत्वोपदेश द्वारा संशय और भ्रान्ति का निरसन पूर्वक मोक्षमार्ग का निर्देश करके शनै - शनैः मेरे संसार बन्धन का खण्डन कर रहे हैं, अविद्या का आच्छादन नष्ट करके मेरे आध्यात्मिक जीवन को परिपूर्ण बना रहे हैं ।

श्रीमद्भागवत में स्वयं भगवन् उपदेश देते हैं :-

आचार्य मां विजानीयात् नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्धयासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥

आचार्य को मेरा ही स्वरूप समझना चाहिये, एवं उनको कभी (भगवान से पृथक जानकर) अवमानित नहीं करना चाहिये । मनुष्य बुद्धि से उनके दोष गुण का विचार नहीं करना चाहिये । गुरु सर्वमय होता है । गुरुदत्त मन्त्र में अक्षर बुद्धि रहने पर जिस प्रकार मन्त्र से परिचय नहीं हुआ, मन्त्र के स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ, मन्त्र का तात्पर्य बोधगम्य नहीं हुआ, उसी प्रकार गुरु के प्रति मनुष्य बुद्धि रहने पर गुरु के साथ परिचय नहीं हुआ, गुरु के स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ, गुरु के साथ यथार्थ सम्पर्क में प्रतिष्ठित होना न हो सका, गुरु

के प्रति एकनिष्ठा भक्ति नहीं प्राप्त हुई । गुरु को सर्वमंगलामय ज्ञानदाता मुक्तिदाता भगवान समझने से ही गुरु शिष्य का सर्वस्व जान पड़ता है, गुरु एक साथ ही उपाय और उपेय रूप में अर्थात् प्रापयिता और प्राप्तव्य रूप में, अभीष्ट सिद्धिदाता और परमाभीष्ट रूप में-प्रतीत होते हैं । तभी गुरु के प्रति एकनिष्ठा भक्ति उत्पन्न हुई, अविचल विश्वास उत्पन्न हुआ । तभी सुनिश्चित प्रत्यय होता है कि, गुरुदेव ऐहिक, पारत्रिक और आध्यात्मिक सब भार लेकर नित्य विद्यमान रहते हैं, अन्तर्जीवन और बहिर्जीवन में वे ही एकमात्र "गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणम् सुहृद" हैं ।

मानव गुरु जीव और ब्रह्म का सम्मिलन क्षेत्र है

यही है गुरुतत्व, एवं ऐसी तात्विक दृष्टि से गुरु का दर्शन करना सीख कर उनके शरणापन्न तथा उनके प्रति ऐकान्तिक प्रेमभक्ति सम्पन्न हो सकने पर जीवन सहज ही सम्यक् सार्थक हो जाता है, एवं संसार के वक्ष पर निर्भीक, निश्चिन्त, निष्काम और सदानन्द भाव में विचरण कर सकता है । मानव गुरु में विश्वगुरु के दर्शन के अनुशीलन में यह विशेष सुविधा है कि वे जीव और शिव के, मानव और भगवान के सान्त और अनन्त के सम्मिलन क्षेत्र हैं । उनके भीतर एक साथ ही जीवत्व और शिवत्व, सान्तत्व और अनन्तत्व परस्पर को आलिङ्गन करके प्रकाशित होते हैं । वे बाहर जीवभावापन्न, अन्तर में शिवभाव में प्रतिष्ठित, बाहर सान्त, भीतर अनन्त होते हैं । अपने जीव भाव के भीतर से आभ्यन्तरीण शिव भाव की किरण छटा विकर्ण होकर जीवत्व की भी शिवत्वमय आनन्त्यमण्डित और चिदघन नंदोज्चल करके शिष्य के सम्मुख समुपस्थित करते हैं, एवं अपने जीवभाव और अनिर्देश्य अव्यक्त सर्वत्रर्ग कूटस्थ अवाङ्-मनसगोचर शिवत्व बहुत परिमाण में एकत्र घनीभूत व्यक्तभावापन्न प्रत्यक्षगोचर और सम्पर्क विशिष्ट रूप में प्रकट करके सहज ही तत्वानुसंधित्सु शिष्य की धारणा को विषयीभूत बना देते हैं । करूणानिधान सर्वभावातीतस्वरूप भगवान् मुमुक्षु के जीवन को सम्यक सार्थकता से परिपूर्ण कर देने के उद्देश्य से उसके निकट स्वयं पकड़ जाने केलिये ही मानो ज्ञात-प्रेमोज्ज्वल मानवमूर्ति धारण करके अवतीर्ण हुए हैं । इसी कारण साधारण साधक के लिये "अदृश्यं अग्राह्यं अगोत्रं अवर्णं

अचक्षुश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगत सुसूक्ष्म" परब्रह्म शिवकी धारणा और उपासना के उपाय रूप में जीव शिवमय-अन्त:शिव बहिर्जीव प्रत्यक्षमानवविग्रहधारी गुरु को ध्येय शरण्य और उपास्य रूप में अबलम्बन करना सहज और स्वाभाविक मार्ग है । ब्रह्मभावभावित ब्रह्मरस रसित महापुरुष के भीतर ब्रह्म का अनुसंधान और उपलब्धि करते-करते क्रमश: बुद्धिविकास के साथ-साथ जीवत्वगन्धविहीन निरूपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कार सुलभ हो जाता है, एवं आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त चराचर विश्व में भी ब्रह्मदर्शन सहज हो जाता है । इसी कारण उपनिषद् भी उपदेश देता है,-"तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकाम:।" अतएव कल्याणकामी व्यक्ति को आत्मज्ञ पुरुष की अर्चना करना चाहिए ।

अपने गुरु तथा दूसरे के गुरु की अभिन्नता

जो व्यक्ति अपने गुरु के तात्विक स्वरूप की उपलब्धि करने में समर्थ होता है वह अपने तथा दूसरे के गुरु के बीच किसी प्रकार की भेद बुद्धि नहीं रख सकता । एक ही नित्य 'सर्वान्तर्यामी संसार-बन्ध-स्थिति मोक्षहेतु' गुरु-विभिन्न देह, विभिन्न भाव और उपाधि अवलम्बनपूर्वक विभिन्न प्रकार साध्यसाधनोपदेश द्वारा विभिन्नप्रकृति विशिष्ट धर्मार्थियों के प्रति कृपावर्षण करते हैं । जिस विशेष देहभाव और उपाधि के भीतर से शिष्य गुरु कृपा प्राप्त करता है, जिस विशेष देहभाव और उपाधि का अवलम्बन करके अचिन्त्य सर्वत्रग गुरु व्यक्ति-भावापन्न होकर जिस साधक के संसार-व्याधि-प्रपीड़ित देह-मन-बुद्धि को ज्ञान-भक्ति प्रेमामृत सिंचन से शान्तिमय और आनन्दमय कर देते हैं उस पवित्र और करुणामण्डित देह के प्रति, तदभिव्यक्त भाव समुदाय और कार्यकलाप के प्रति, तत्सश्लिष्ट 'सब कुछ' के प्रति उस शिष्य का विशेष अनुराग स्वाभाविकं संगत और आवश्यक होता है । उसके जीवन के परिचालन में उस विशेष व्यक्तिभावपन्न गुरु द्वारा निर्धारित मार्ग ही सर्वात्मना अटूट विश्वास के साथ अवलम्बननीय होता है । किन्तु विचारदृष्टि से इस बात की उपलब्धि करना आवश्यक है कि, जो इस विशेष मूर्ति का अवलम्बन कर मेरे ऊपर कृपा कर रहे हैं और मुझको इस विशेष मार्ग पर चला रहे हैं, वे अद्वय ज्ञान प्रेमनिधि गुरुदेव ही भिन्न-भिन्न विशेष मूर्तियों का अवलम्बन कर विभिन्न धर्म-पिपासुओं

पर कृपा करते हैं और विशेष-विशेष मार्गों पर से एक ही लक्ष्य की ओर उनको चलाते हैं। व्यक्ति के नाते साधक के नाते, महापुरुष के नाते उनके बीच नाना प्रकार का पार्थक्य हो सकता है, वे विभिन्न सम्प्रदाययुक्त और विभिन्न प्रकार की साधन प्रणाली के उपदेष्टा हो सकते हैं, किन्तु गुरु भाव में उनके बीच कोई पार्थक्य नहीं होता, तब वे सभी उसी एक अद्वितीय गुरु की गुरुशक्ति के द्वारा ही आविष्ट रहते हैं, उनके भीतर से एक अद्वितीय गुरु शक्ति ही प्रकट होती है, वे सब एक ही गुरुशक्ति के वाहन होते हैं। गुरु हिसाब से किसी को बड़ा और किसी को छोटा मानने से उस विश्व गुरु के निकट ही अपराधी होना पड़ता है। विश्वगुरु भगवान् किस धर्म-पिपासु के ऊपर कृपा करने के लिये कैसे साधन सम्पन्न महापुरुष को वाहन रूप में अवलम्बन करेंगे, यह वे ही जानते हैं। किन्तु व्यक्तिगत भाव से वे किसी भी रूप में ही क्यों न हों, शिष्य ग्रहण काल में उनके भीतर उसी पुरुषोत्तम का ही प्रकाश रहता है, यह विश्वास रखना चाहिये।

गुरु शरणागति

सद्गुरु गम्भीरनाथ जी संक्षेप में गुरुतत्व का निर्देश करके धर्मार्थियों को गुरु के प्रति अटूट विश्वास और ऐकान्तिकी भक्ति रखने का तथा सर्वभावेन गुरु के शरणागत हाने का उपदेश देते थे। क्योंकि शिष्य की विश्वास भक्ति और शरणागति को दृढ़ता, गम्भीरता और व्यापकता के अनुसार ही गुरु का स्वरूप शिष्य के हृदय में प्रकाशित होता है एवं शिष्य का जीवन परम कल्याण की ओर अग्रसर होता है। शरणागति का लक्षण इस प्रकार है :-

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्य विवर्जनम्।
रक्षिप्यतीति विश्वास गोसृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

गुरु के उपदेश और अभिप्राय को समझकर तदनुकूल जीवन के सब विभागों को नियन्त्रित करने में यथासाध्य पुरुषकार का प्रयोग करने के लिये वद्धपरिकर होने का नाम है आनुकूल्य का संकल्प। यही शरणागति का प्रथम लक्षण है। तद्विरोधी चिन्तन वाणी और कार्य का सर्वतोभावेन वर्जन करने की

चेष्टा ही प्रातिकूल्य विवर्जन नामक द्वितीय लक्षण है । गुरु ही आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक सब प्रकार के विघ्नविपत्ति और दुःख सन्ताप से रक्षा करेंगे - ऐसा सुदृढ़ विश्वास तृतीय लक्षण है ।

गुरुको गोप्ता या परमाश्रय रूप में सम्पूर्ण हृदय से वरण कर लेना, उनको स्वामी रूप में अनुभव करना-चतुर्थ लक्षण है । उनक चरणों पर आत्मसमर्पण कर देना,-अपने को सम्पूर्ण रूप से उनका ही समझना- अपने स्वातन्त्र्य को उनके भीतर डुबा कर स्वातन्त्र्य की पूर्णता सम्पादन करना,-यही आत्मनिक्षेप नामक पंचम लक्षण हैं । कार्पण्य या दीनता-अपने अभिमान को सम्पूर्ण रूप से उनके अन्दर विलीन कर देना,-कर्तृत्वाभिमान और भोक्तृत्वाभिमान त्याग कर उन्हीं का प्रेमानुगत दास होकर जीवन के सब कर्त्तव्यों का सम्पादन करना-यही शरणागति का षष्ठ लक्षण है । ये सब लक्षण जीवन में जिस मात्रा में विकसित होते हैं, उसी मात्रा में गुरु के प्रति विश्वास, भक्ति और शरणागति प्रतिष्ठित होती है, उसी मात्रा में गुरु कृपा का अनुभव होता है, उसी मात्रा में गुरु का आश्रय लेना सार्थक होता है ।

साधना ही मनुष्य का मनुष्यत्व है

गुरु शिष्यजीवन को सार्थक्यमण्डित करता है साधन प्रदान द्वारा, साधन निरपेक्ष सिद्धिप्रदान द्वारा नहीं । साधन निरपेक्ष सिद्धि का कोई अर्थ नहीं होता । साधन की परिपूर्णता ही सिद्धि है । साधक की साधना द्वारा साध्य के साथ सम्मिलित हो जाने पर सिद्धि प्राप्त होती है । जहाँ साधना नहीं वहाँ सिद्धि भी नहीं । इसी कारण शिष्य के अन्तर में अन्तर्निहित साधन शक्ति को उद्‌बोधित, नियन्त्रित और साफल्यमंडित करने में ही गुरु अपनी गुरु शक्ति का प्रयोग करते हैं । वस्तुतः साधना ही मनुष्य का मनुष्यत्व है, साधन शक्ति ही मनुष्य का गौरव है, मनुष्य अपनी साधना द्वारा परिपूर्णता प्राप्त कर सकता है, इसीलिए वह सब जीवों से श्रेष्ठ है । जगद्‌गुरु भगवान् मनुष्य का आत्मगौरव जागृत करने के लिये पाञ्चजन्यनिनाद से घोषणा करते हैं,

स्वर्गिणोऽप्येतं काङ्क्षन्ति लोकं निरयिणस्तथा ।
सार्थकं ज्ञानभक्तिभ्यां उभयं तदसाधकम् ॥

तप्त दुःख-भोग-निमज्जित नारकीय देहधारी जीवगण जिस प्रकार मनुष्य देह प्राप्त करने के लिये आकांक्षा करते हैं, अविच्छिन्न सुखभोगमत्त स्वर्गीय देव देहधारी जीवगण भी उसी प्रकार मनुष्य देह प्राप्त करने के लिये लालायित रहते हैं, क्योंकि मनुष्यदेह तथा नारकीय देह दोनों ही असाधक हैं। साधन शक्ति समन्वित होने से ही मनुष्य जन्म देवताओं के लिये भी लोभनीय है। साधन शून्य होकर अविच्छिन्न सुख भोग में मत्त रहना कोई गौरव की बात नहीं, उससे जीवन धारण की कोई सार्थकता नहीं होती। मनुष्य साधक होने के नाते ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, वह भगवान् के साथ ज्ञानतः एकत्व प्राप्ति का अधिकारी है।

साधना की सार्थकता और पूर्णता सम्पादन की गुरुशक्ति का कार्य है

मनुष्य की साधना को सार्थक कर देने में ही भगवान् के गुरु शक्ति की भी सार्थकता है। जीव को अविद्यातमसाच्छन्न हेयतम अवस्था अनजान में ही उत्तरोत्तर नानाविध परिणामों के भीतर से कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करते-करते सर्वान्तर्यामी विश्वनियन्ता गुरु जब ज्ञानयुक्त साधनशक्तिसमन्वित मनुष्यपदवी पर पहुँचाते हैं, तभी उनकी गुरुशक्ति का भी सम्यक् आत्मप्रकाश करने का समय उपस्थित होता है, तभी वे स्थानीन विचार शक्ति सम्पन्न पुरुषकार प्रयोगनिरत शिष्य के साधन जीवन के उपदेष्टा और साहाय्यकारी रूप में गरु शक्ति को प्रकट करके शिष्य के चित्त का ज्ञान, प्रेम और भक्ति से परिपूर्ण कर देते हैं। शिष्य जब अपनी स्वाधीन विचारशक्ति और इच्छाशक्ति को श्रद्धा और रति के साथ गुरु के उपदेश के आनुकूल्य में नियुक्त करके साधन जीवन में क्रमशः उन्नत से उन्नततर् सोपान पर अधिरोहण करते-करते जितना ही गुरुभाव भावित होता है और गुरु के साथ अपने पारमार्थिक ऐक्य का साक्षात् अनुभव करता है उतना ही गुरु की उल्लासवृद्धि होती है, उतना ही शिष्य जीवन में गुरुशक्ति साफल्यमण्डित होती है। साधना के भीतर से ही शिष्य गुरु को अपने भीतर परिपूर्ण स्वरूप में प्राप्त करता है, एवं गुरु शिष्य को अपने भीतर परिपूर्ण

रूप से ग्रहण करता है । साधना में ही गुरु शिष्य सम्बन्ध की सम्यक् सार्थकता है ।

गुरु कृपा सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा

साधना के सुमहान् गौरव और सुगम्भीर आनन्द की उपलब्धि करने में असमर्थ होकर बहुत लोग सोचते हैं कि, शिष्य के कन्धे पर किसी प्रकार का साधना दायित्व भार न डाल कर गुरु यदि अपनी शक्ति से उसे एक बारगी मोक्षधाम में पहुँचा दें, सिद्धि घोल कर पिला देने के समान यदि गुरु शिष्य को मुक्ति का आस्वादन करा दें, किंवा शिष्य की विचार शक्ति और इच्छा शक्ति की स्वतन्त्रता को विनष्ट करके गुरु यदि अपनी अलौकिक शक्ति बल से ही उसको परम पुरुषार्थ के द्वार पर ले जाकर उपस्थित कर दें, तभी गुरु का माहात्म्य सम्यक् रूप से प्रकट होता है, तभी शिष्य के प्रति गुरु के अपरिसीम करुणा का निदर्शन सुव्यक्त होता है, तभी गुरु द्वारा शिष्य के सब भार ग्रहण कर लेने का परिचय प्राप्त होता है । किन्तु गुरु कृपा से जो सब शिष्य साधना के गौरव का अनुभव करते हैं, अपनी विचार शक्ति और इच्छा शक्ति को जान बूझ कर और स्वाधीन रूप से भक्ति और प्रेम के साथ गुरुदेव के विचार और इच्छा से युक्त करके क्रमशः अपने जीवन के सभी अंग प्रत्यंग को गुरुभावमय करते करते अपने पुरुषकार से परम कल्याण के पथ पर अग्रसर होने का सुगम्भीर आनन्द का आस्वादान करने में समर्थ होते हैं, वे लोग ऐसा नहीं सोचते । तत्वानुसन्धान के गौरव और आनन्द से वञ्चित होकर वे एक बारगी तत्व में प्रतिष्ठित होने के लिये गुरुदेव के निकट प्रार्थना नहीं करते । अपनी प्रेमभक्ति की प्रेरणा से स्वेच्छा पूर्वक और आनन्द के साथ श्रीगुरु चरणों में आत्म निवेदन करके वे कृतार्थ होना चाहते हैं, न कि इसके विरूद्ध गुरु प्रबलतर शक्ति के प्रभा से उनकी इच्छा के विरूद्ध हठात् उनके जीवन को जड़ पदार्थ की तरह आत्मसात् कर लें, यह वे नहीं चाहते, इसको वे मानव जीवन की सार्थकता नहीं समझते ।

साधना का माहात्म्य

कोई-कोई साधनानन्दी आचार्य ऐसा भी सोचते हैं कि, नित्यसिद्धि में

प्रतिष्ठित परिपूर्ण ज्ञानैश्वर्यानन्दमय भगवान् स्वयं साधना का विशेष गौरव और आनन्द सम्भोग करने के उद्देश्य से ही अपने ज्ञान शक्ति, ऐश्वर्य और आनन्द का संकोचन करके असंख्य प्रकार के साधक शरीर धारण किये हैं, एवं अपने स्वरूपगत तत्व को आवृत और नाना प्रकार से विक्षिप्त करके विरह व्यथा के भीतर से फिर उसी का अनुसन्धान करते हैं । ऊँचे नीचे नाना श्रेणी के जीव देहों में वस्तुतः भगवान् स्वयं ही साधक हैं । जिस जाति के देह में जितनी ही सूक्ष्म और गम्भीर साधना सम्भव होती है, उस जाति की देह उतनी ही उन्नत होती है । इसी कारण मनुष्य देह का उतना गौरव है । मनुष्य देह भगवान् का प्रकृष्टतम साधन क्षेत्र है । इसी देह के भगवान् की साधना की परिपूर्णता है, इसी देह में वे स्वेच्छा से विसृष्ट अपने को साधना द्वारा फिर परिपूर्ण स्वरूप में प्राप्त करते हैं, गुरु शिष्य सम्पर्क में भी प्रत्येक शिष्य के भीतर से गुरु ही साधना करता है; नित्य ज्ञान प्रेमानन्दघन गुरु स्वरूपतः अपनी महिमा में विराजमान रहकर भी शिष्य मण्डली के बहुविध वैशिष्टय के भीतर से नाना रूप में अपने को प्रकाशित करते हैं, नाना भाव में अपना ही अनुसन्धान दर्शन और आस्वादन करते हैं । आपातदृष्टि से दो शिष्यों के पाप-ताप, संकीर्णता आदि रूप में प्रतीत और अनुभूत होता है, इस प्रकार की तत्वदृष्टि से वह भी गौरवोज्ज्वल हो उठता है । वह भी लीलामय गुरु की साधना के अंगीभूत रूप में आस्वादित होता है । शिष्य के भीतर साधना का आस्वादन न रहने पर शिष्य के शिष्यत्व का कोई मूल्य नहीं होता, गुरु के गुरुत्व का कोई गौरव नहीं रहता।

साधना के लिए गुरु एक ओर तत्वनिर्देश और दूसरी ओर साधन प्रवृत्ति का उद्बोधन करते हैं

साधना जिस प्रकार एक ओर साध्यसापेक्ष है उसी प्रकार दूसरी ओर साधन प्रवृत्ति सापेक्षे है । साध्यनिर्देश के लिये ही तत्वोपदेश की आवश्यकता होती है । तत्वतः जो नित्य सिद्ध है, वही साधक के लिए साध्य है । तत्व दृष्टि से जो चिरन्तन सत्यस्वरूप में ही विद्यमान है, तत्वदृष्टि प्राप्त करने के लिए ही साधक को उसे आदर्श रूप में ग्रहण करना पड़ता है, एवं अपने उपलब्धि क्षेत्र

में उसे सत्य कर लेने में साधना का आश्रय लेना पड़ता है । साधन बिना नित्यसिद्ध सत्य भी अपनी अनुभूति में सत्य नहीं हो पाता, एवं अपनी अनुभूति में सत्य रूप से प्रतिभात न होने पर तह जीवन को सार्थक नहीं करता, परमानन्द में प्रतिष्ठित नहीं करता । सुतरां गुरुपदेश से तत्व को जानकर साधन में प्रवृत्त होना आवश्यक है । जहाँ साधन में प्रवृत्ति का अभाव है समझना होगा कि वहाँ अविद्या काम कर्मादिजनित आवर्जना पुञ्जीभूत है, गुरुशक्ति उस आवर्जना को हटाकर अभी भी अनुभूति के क्षेत्र में प्रकाशित नहीं हो पा रही है, जीवन में परमतत्व के सत्य होने में अभी बहुत देरी है, कदाचित् कई जन्म बाकी हैं। आवर्जना के भार से अन्धकारावृत्त आन्तर राज्य की आध्यात्मिक अवस्था ठीक किस प्रकार की है, आवर्जनराशि के बीच कितना दुग्धमिश्रित विषाक्त द्रव्य के समान स्वभाव के साथ मिलकर आन्तर स्वभाव को कलुपित कर रक्खा है, एवं कितना केवल मुकुरसंलग्न आगन्तुक घूलिकणा-समूह के समान निर्मल सुकृति सम्पन्न तत्व ज्ञान-पिपासु अन्तःकरण को बाह्यतः आच्छादित किए हैं, ऊपर की आवर्जना हटने पर किसके चरित्र में किस माता में श्रद्धावीर्य और ऐकान्तिकता के साथ साधन प्रवृत्ति प्रकाशित होगी, तत्वदर्शी महापुरुषों के अतिरिक्त दूसरे किसी के लिये उसका निर्णय करना आवश्यक ही नितान्त कठिन कार्य है । किन्तु साधारण उपदेश साधारण नियमों के अनुवर्तन के लिये ही दिया जाता है । साधारण नियम वही है कि जिस जीवन में साधना का तेज और ऐकान्तिकता जितना अधिक होगा साधना जितना ही आनन्दप्रद और स्वभाव बन जायेगी, समझना चाहिए कि जीवन में गुरु शक्ति का उतना ही अधिक प्रकाश है, गुरु कृपा का उतना ही अधिक परिचय है ।

सद्‌गुरु गम्भीरनाथ जी गुरु शिष्य सम्बन्ध विषयक एक प्रकार के उपदेश द्वारा शिष्यों के निकट गुरुतत्व का निरूपण करके साध्यनिर्देश करते थे, एवं दूसरे प्रकार के उपदेश द्वारा शिष्यों की साधनप्रवृत्ति को जाग्रत रखते थे। वे धर्मार्थियों के साधन शैथिल्य, गुरु के आश्रय के बहाने अकर्मण्यता को प्रश्रय देना, बिल्कुल नापसन्द करते थे । शिष्यों की सब प्रकार की दुर्बलता और वेदना के प्रति उनके सहानुभूति की इयत्ता न था, उनका प्रेमगठित हृदय आर्तवात्सल्य

से परिपूर्ण था, तथापि उनकी सान्त्वना और भरोसा देने के लिये भी उनके श्रीमुख से कोई ऐसी बात नहीं निकली थी जिससे शिष्यों की मनुष्योचित स्वाधीनता और दायित्वबोध संकुचित हो, साधन में आग्रह का ह्रास बिन्दुमात्र भी हो, विचार शक्ति और इच्छाशक्ति के प्रयोग में किसी प्रकार की उदासीनता आये। कितने ही शिष्य अपने प्राणों की वेदना और साधन सामर्थ्य के अभाव की बात बड़े कातर स्वर में उनके समीप निवेदन करके उनके मुख की ओर उत्सुकता के साथ ताकने लगते थे कि कदाचित् वे कह दें कि, 'तुम लोगों का ऐहिक तथा पारत्रिक सब भार ही मैंने ग्रहण कर लिया है, तुम्हें कुछ करना नहीं पड़ेगा।' किन्तु ऐसी आकाशवाणी उनके मुख से एक बार भी नहीं निकली। वे उपदेश देते थे कि, यह विश्वास अवश्य रखना चाहिए कि गुरु सब भार ग्रहण कर लेते हैं, सामर्थ्यानुरूप साधना द्वारा ऐसे विश्वास का अनुशीलन करना चाहिए, तथा ऐसे विश्वास के अनुसार ही जीवत गठन करने की चेष्टा करनी चाहिए। विश्वास में असीम शक्ति है। किन्तु साधन बिना विश्वास होता नहीं, ऐकान्तिक प्रयत्न के फलस्वरूप चित्त जब भगवद्भावभावित हो जाता है, तभी यथार्थ विश्वास प्रतिष्ठित होता है। अपने अभिमान और कामना का त्याग करके ज्ञान और प्रेम के साथ जबतक सब भार अर्पण नहीं कर दिया जाता तबतक इस बात का विश्वास तथा अनुभव कैसे होगा कि गुरु ने सब भार ग्रहण कर लिया? शिष्यों की साधन प्रवृत्ति को जाग्रत करने के उद्देश्य से ही वे कभी-कभी एक विरक्ति व्यञ्जक स्वर (जो उनके स्वभाव के विपरीत था) कह देते थे कि, यदि साधन भजन करने की इच्छा ही न थी तो दीक्षा लेने की ही क्या आवश्यकता थी? साधन कने के लिये ही तो गुरु का आश्रय लिया जाता है, न कि साधन त्याग करने के लिए। ब्राह्मदृष्टि से गुरु प्राप्त होनेपर न जीवन का ही अन्त होता है न संसार का ही, सुतरां अपने कर्मों के दायित्व से अव्याहति भी नहीं मिलती। साधन जीवन को सुनियन्त्रित रखने के लिये, साध्यतत्व को समझने के लिए एवं साधन में शक्ति प्राप्त करने के लिए ही गुरु का शरण लिया जाता है, तथा उसी प्रकार साहाय्य करने के लिए ही गुरु धर्म-पिपासुओं को शिष्य बनाते हैं।

सद्‌गुरु प्राप्त होने पर ही निर्दिष्ट काल के अन्दर मुक्ति हो जाती है या नहीं ?

कोई-कोई पूछते थे, कि जिन्हें सौभाग्यवश किसी जीवन्मुक्त महापुरुष से दीक्षा प्राप्त होती है, वे सब लोग ही निर्दिष्ट काल के भीतर या निर्दिष्ट संख्यक जन्मों में मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं या नहीं ? गुरुदेव उत्तर देते थे कि, इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है, मुक्ति-प्राप्ति शिष्य के अधिकार पर निर्भर है पूर्व जन्मकृत तीव्र साधना के परिणाम स्वरूप जो लोग विशुद्ध देह, मन और अत्युन्नत आध्यत्मिक शक्ति लेकर जन्म ग्रहण करते हैं अथवा पूर्व जन्म में तत्वज्ञान प्राप्त करके भी उसमें सुप्रतिष्ठित होने के पूर्व ही मृत्यु के मुख में पतित होकर दूसरा शरीर धारण कर लेते हैं, ऐसे अत्युत्कृष्ट अधिकार सम्पन्न पुरुष किसी अलोक सामान्य ब्रह्मविद्वष्टिर महापुरुष के निकट:अध्यात्मतेज: समन्वित तत्वोपदेश प्राप्त करके तत्क्षणात् ''एक पलक से'' मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं । यहाँ तक कि, ऐसे उत्तमाधिकारी शिष्य सद्‌गुरु के दर्शन का स्पर्शमात्र से अविद्या के राज्य से युक्त होकर तत्वज्ञान में प्रतिष्ठित हो सकते हैं । किन्तु मध्यम और कनिष्ठ अधिकार सम्पन्न शिष्यगण असीम शक्तिशाली महापुरुषों का आश्रय प्राप्त करके भी, बिना सुतीव्र पुरुषकार किये, एक दो या तीन जन्म में भी तत्वसाक्षात्कार को योग्यता नहीं प्राप्त कर सकते । शिष्य के अधिकार और पुरुषकार के अनुसार ही उनके भीतर गुरुशक्ति का विकास होता हैं । गीता में भगवान् ने भी क्या ऐसा ही नहीं कहा है कि, ''बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।'' ''अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।'' इत्यादि ।

गुरु पर विश्वास के साथ-साथ गुरुपदिष्ट साधन में लग जाना ही शिष्य का कर्तव्य है

इस बात को सुनकर एक शिष्य ने पूछा कि, हम लोगों के वे सारे जन्म हो चुके या नहीं, इस बात को कैसे जानूँ ? गुरुदेव ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया कि, इसको जानने की कोई आवश्यकता नहीं । जिसे मुक्ति की पिपासा है और गुरु के प्रति श्रद्धा है, वह शिष्य गुरुपदेश का अनुवर्ती होकर

ऐकान्तिक आग्रह के साथ साधन में प्रवृत्त हो जायेगा और जब तक सिद्धि प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक साधन में शिथिलता नहीं आने देगा। कितने जन्म होते हैं, कितने बाकी हैं, कितनी उन्नति हुई, मुक्ति कब प्राप्त होगी, इस प्रकार के सोच विचार में समय नष्ट करने की क्या आवश्यकता है। इन बातों से तो गुरु के प्रति विश्वास का अभाव ही प्रकट होता है। निष्काम भाव से तथापि अविचल दृढ़ता के साथ साधन में निमग्न हो जाना चाहिए। गुरु का यदि शिष्य के प्रति कोई कर्तव्य होता है, तो वह तो वे करेंगे ही, उसके लिये गुरु से अनुरोध या उपरोध करने की किंवा गुरु से उनके कर्तव्य को जान लेने की क्या कोई आवश्यकता है ? शिष्य की जितनी शक्ति सामर्थ्य होती है, उसके अनुसार उसे जिस कर्तव्य का उपदेश मिलता है, श्रद्धा और वीर्य के साथ उसके सम्पादन में प्रवृत्त हो जाने पर ही गुरुविश्वासी शिष्य का उपयुक्त कार्य हो जाता है। जो शिष्य गुरुतत्व को समझ कर गुरु कृपा पर विश्वास स्थापन कर सकता है, वह गुरु से किसी बात की याञ्चा न करके उसके चरणों पर सर्वस्व निवेदन कर देने का प्रयत्न करता है, फलाफल के विषय में निश्चिन्त होकर अनुराग और अग्रह के साथ गुरु के उपदेश को जीवन में कार्यतः उतारने की पूरी चेष्टा करता है। वह जानता है कि, गुरु जो करेंगे, जिस प्रकार रक्खेंगे, जिस पथ पर चलायेंगे, उसमें ही सर्वाङ्गीण कल्याण की प्राप्ति होगी। साधन जीवन में इस बात को स्मरण रखने की चेष्टा करनी चाहिये कि करना या न करना, सफल होना या निष्फल होना, भगवान् के हाथ में है। करने ही शान्ति, देने में ही निवृत्ति, तथा चाहने में ही बन्धन और दुःख है। कर्तव्य बुद्धि से अविचल श्रद्धा और वीर्य के साथ साधन करते जाओ, किंसी बात की चाह न करो, भीतर से यदि चाह जागे भी तो उसका दमन कर दो, यही परमार्थ सिद्धि का मार्ग है। विश्वास रक्खो कि हमारा होने का कोई कारण नहीं है। तुम्हारे पास जितनी शक्ति है उतनी ही यथोपयुक्त रूप से प्रयोग करने पर ही अचिन्तनीय फल प्राप्त करोगे।

गुरु करण को आवश्यकता

एक शिष्य ने एक दिन जिज्ञासा किया कि, मुक्ति की प्राप्ति यदि अपनी

साधना के ऊपर ही निर्भर रहती है, तो सद्‌गुरु को आश्रय लेने की क्या आवश्यकता ? इसके उत्तर में योगिराज जी ने जो अभिमत व्यक्त किया उसका मर्म इस प्रकार है । गुरु सबके ही ऊपर कृपा करते हैं । साधक के पुरुषकार के भीतर से भी गुरु शक्ति का ही क्रमविकास होता है । सद्‌गुरु तो शिष्य के बाहर ही केवल विराजमान नहीं रहते, उसके भीतर भी अनवरत ही गुरु की प्रेरणा गतिशील रहती है, साधु संग, जागतिकव्यपारपर्यवेक्षण, शास्त्राध्ययनादि के भीतर से भी सद्‌गुरु की कृपा अनवरत कल्याणकांक्षी को उद्बोधित और नियंन्त्रित करती रहती है ।

साधारण विधि

तो भी साक्षात तत्वज्ञान प्रतिष्ठ महापुरुष से दीक्षा ग्रहण तथा उसका गुरुपद पर वरण, मुमुक्षु मात्र के लए साधारण विधि है । जिस प्रकार लोगों का स्वास्थ्य और रोग, सम्पत्ति और दारिद्रय, विद्वता और मूर्खता आदि निज निज कर्मानुसार ही होता है, एवं भगवद्विधान से ही वह सब नियमित होता है; किन्तु कर्मव्यवस्था ही इस प्रकार की है कि लोग व्याधिग्रस्त होने पर स्वास्थ्य लाभ के लिए चिकित्सक के शरणापन्न होते हैं, दारिद्रयक्लेश होने पर अर्थलाभ के लिये धनी का साहाय्य ग्रहण करते हैं, विद्या प्राप्त का प्रयोजन बोध होने पर विद्वान के निकट प्रार्थी होते हैं । कोई भी व्यक्ति पिपासा से व्याकुल होकर न जलाशय के खोदने में ही प्रवृत्त होता है, न मेघ की ओर ही ताकता रहता है, और न इसी के लिए प्रतीक्षा करता है कि कृपामय भगवान् कब स्वयं जल लेकर उपस्थित होंगे; वह किसी जलाशय के निकट अथवा किसी गृहस्थ के धर जल कें लिए जाता है । ऐसा ही साधारण नियम है । यह बात अवश्य नहीं कहीं जा सकती कि इसका व्यतिक्रम कभी नहीं होता । उसी प्रकार यद्यपि मनुष्य का बन्धन और मुक्ति भगवद्विधान से निज-निज कर्मानुसार होता है, एवं मनुष्य की साधन के भीतर से ही विश्वगुरु की कृपा प्रकाशित होती है, तथापि साधारण व्यवस्था यही है कि जिसे ज्ञान भक्ति की पिपासा हो, वह पूर्णज्ञानी और पूर्णभक्त के शरणापन्न हो, मुक्ति प्राप्ति के लिए जिसके प्राण व्याकुल हो उठें वे मुक्ति पद पर प्रतिष्ठित किसी महापुरुष के निकट ही उसकी खोज करें;

जो नियम रूप से साधन करने के लिए प्रस्तुत होता है, वह नाना प्रकार के शास्त्रों तथा साधु महात्माओं से असंख्य प्रकार के आपात विरोधी मतमतान्तर और साधन प्रणालियों का अध्ययन कर अपने जीवन में विचार और परीक्षा द्वारा उसमें से किसी एक मार्ग का अवलम्बन कर साधन में प्रवृत होने का बहुक्लेशसाध्य और संशयान्दोलित चेष्टा की अपेक्षा किसी एक विशिष्ट तत्वज्ञानप्रतिष्ठ बहुजन सम्मानित श्रद्धाभाजन महापुरुष के चरण पर आत्मनिवेदन पूर्वक उनसे स्वाधिकारानुरूप किसी सुनिश्चित मार्ग पर दीक्षित होकर अविचल विश्वास ओर निश्चयात्मिका बुद्धि के साथ साधन में निमग्न हो जाना ही सिद्धि प्राप्त करने का प्रवृष्ट उपाय समझे। इस प्रकार गुरुपद वरणपूर्वक जिस साध्यसाधन रहस्यज्ञ लोकानुग्रहतत्पर ब्रह्मभूत महापुरुष के शरणापन्न हुआ जाता है, उसके भीतर से गुरुशक्ति का विशेष विकास होता है, वे भागवती गुरुशक्ति का एक विशिष्ट प्रकट मूर्तरूप में शिष्य के सर्वांगीण कल्याण का विधान करते हैं, विश्वगुरु की करुणाधारा उनके भीतर से प्रवाहित होकर शिष्य के जीवन को आप्लुत और भक्ति ज्ञानामृतमय कर देती है। भगवान जिस प्रकार धनी के माध्यम से निर्धन का अभाव दूर करते हैं, विद्वान के माध्यम से विद्याकांक्षी की आकांक्षा पूरण करते हैं, चिकित्सक को अवलम्बन करके व्याधिग्रस्त को स्वास्थ्य प्रदान करते हैं, उसी प्रकार मानव जीवन की चरम सार्थकता में प्रतिष्ठित महामानव के माध्यम से ही गुरुशक्ति के समुज्ज्वल परिपूर्ण स्वरूप को प्रकाशित करते हैं, एवं मुमुक्षुओं की जीवन को चरम सार्थकता प्रदान करते हैं। दूसरे पक्ष में धनार्थी और स्वास्थ्यार्थियों के लिए जिस प्रकार धनी, विद्वान और चिकित्सक के उपदेशानुसार उपयुक्त उपायों का अवलम्बन कर जीवन नियन्त्रित करना तथा पुरुषकार प्रयोग करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार जीवन की सार्थकता चाहने वाले व्यक्ति के लिये भी गुरु के उपदेशानुसार जीवन के सब विभागों को सुनियन्त्रित करना और साधन भजन में ऐकान्तिक आग्रह सम्पन्न होना आवश्यक होता है। यही भगवान् की चिरन्तनी लीला है, यही मनुष्य जगत का साधारण नियम है।

विधि का व्यतिक्रम

साधारर्ण नियमों का व्यतिक्रम भी सभी क्षेत्रों में देखा जाता है । बिना चिकित्सा के भी रोगी स्वस्थ हो जाता है, वर्णमाला भी न जानने वाले निरक्षर भी प्रचुर ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, अकस्मात् अप्रत्याशित रूप से कोई अन्न वस्त्र का कंगाल भी महान् ऐश्वर्य का अधिपति हो सकता है । इसी प्रकार जगत् में ऐसे उच्चाधिकारी मनुष्य भी कभी-कभी देखे जाते हैं, जो मानवदेहधारी गुरु का आश्रय न लेकर भी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं । जन्मान्तरीण साधक के प्रभाव से उनके अन्तर में साध्य साधन रहस्य सम्बन्धी ऐसा ज्ञान बना रहता है, जो देहान्तर में भी मलिन नहीं होता, अथवा प्राकृतिक नियम से कथाचित् आवृत्त होने पर भी, शास्त्र श्रवण, साधुसंग, जागतिक व्यापार परिदर्शन आदि के फलस्वरूप सहज ही वह आवरण तिरोहित हो जाता है, पौर्वदेहिक ज्ञान का विकास होता है, आध्यात्मिक शक्ति जाग्रत होती है, एवं निश्चयात्मिका बुद्धि के साथ साधना आरम्भ हो जाता है । किन्तु ऐसे अधिकारी नितान्त बिरल होते हैं, तथा यह साधारण नियम का व्यतिक्रम है । साधारणत: देहान्तर ग्रहण काल में सबका ही पूर्वार्जित ज्ञान और शक्ति आवृत हो जाता है, केवल अस्फुट संस्कार वर्तमान रहता है । प्राक्तन साधन, लब्ध ज्ञान और शक्ति भी सद्‌गुरु के जाग्रत ज्ञान और शक्ति के संस्पर्श के बिना उद्‌बुद्ध और क्रियाशील नहीं होते। गुरुशक्ति के प्रकट विग्रह स्वरूप महापुरुष के संस्पर्श से ही आभ्यान्तरीण गुरुशक्ति की प्रेरणा अनुभव के क्षेत्र में प्रकट होती है, भोग बहुत घट जाता है, दुष्प्रारब्ध दुर्बल हो जाते हैं, मुमुक्षा प्रबल हो जाती है, विघ्न विपत्तियों का ह्रास होता है, और साधना की गति द्रुत हो जाती है । पक्षी जिस प्रकार अपने बच्चों को पक्षपुट के नीचे रखकर सब प्रकार के संकटों के भय से रक्षा करता है, गुरु भी उसी प्रकार साधनशील अनुगत शिष्यों को अपनी शक्ति के द्वारा सब प्रकार के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक शत्रुओं के आक्रमण से रक्षा करके उन्नति का पथ निष्कंटक, निर्विघ्न और आनन्दमय बना देते हैं। सुतरां शरणागति और अनुकूल पुरुषकार दोनों को ही शास्त्रों में आवश्यक बतलाया गया है ।

योगवाशिष्ट में वशिष्टदेव ने कहा है -

उपदेशक्रमो सम व्यवस्थामात्रपालनम् ।
ज्ञप्तेस्तु कारणं शुद्धा शिष्यप्रज्ञैव राघव ॥

हे राम ! गुरु से उपदेश ग्रहण करना साधारण विधान है, एवं उसका अनुवर्तन आवश्यक है, किन्तु हे राघव ! शिष्य की विशुद्धा प्रज्ञा ही तत्वसाक्षात्कार का कारण है इसके साथ ही साथ वे स्पष्ट-भाषा में निर्देश करते हैं, :-

"गुरुपदेशञ्च बिना नात्मतत्वागमो भवेत्"

अर्थात् गुरु के उपदेश के बिना आत्मतत्व की उपलब्धि नहीं होती। महर्षि विश्वामित्र कहते हैं -

दर्शनाद् स्पर्शनाद् शब्दात् कृपया शिष्यदेहके ।
जनयेद् यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः ॥

जो दर्शन, स्पर्श अथवा शब्द द्वारा शिष्य के प्रति कृपा प्रकाश पूर्वक उसके चित्त में शम्भु (शिव ब्रह्म) सम्बन्धी सम्यक् आवेश उत्पन्न कर देना है, वही यथार्थ उपदेश या गुरु है । और वे इसका भी निर्देश करते हैं कि,

शिष्यप्रज्ञैव वोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः ।

गुरु वाक्य से जो तत्वज्ञान उत्पन्न होता है उसका कारण शिष्य की प्रज्ञा ही है । अर्थात् उत्तम शिष्य के चित्त में ही गुरु वाक्य का तात्पर्य प्रकाश सत्वर तथा समुज्ज्वल होता है, मध्यम शिष्य के चित्त में उसके प्रकाशित होने के लिये लम्बी साधना आवश्यक होती है, एवं कनिष्ठ (मन्दप्रज्ञ और मन्द

प्रयत्न) शिष्य के चित्त में उसके प्रकाशित होने के लिए जन्म जन्मान्तर आवश्यक हो सकते हैं। फलतः वही सिद्धान्त है कि,

ज्ञानं प्रत्यक्षमेवेदं गुरुशिष्य प्रयोजनम्।

अर्थात् योग्य गुरु और योग्य शिष्य के मिलन के ऊपर ही ज्ञान निर्भर है।

गुरु कृपा और शिष्य साधना की एकता

शिष्य जब तत्वदृष्टि से गुरु को अपने अन्तर में उपलब्ध करता है, साधना द्वारा जब जीव को गुरुमय कर लेने में समर्थ होता है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जब गुरु की करुणामयी लीला के प्रकाश का दर्शन करने लगता है, तब गुरु और शिष्य दो नहीं रह जाते, तब उसके लिए गुरु ही सब कुछ होता है, गुरु ही नित्य सिद्ध और नित्य साधक भी है, गुरु ही ज्ञान प्रेम स्वरूप है, ज्ञान प्रेम प्रकाशक है और ज्ञान प्रेम पिपासु है। तभी शिष्य के पुरुषकार का चरम विकास है, गुरु की कृपा शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति है। तभी शिष्य गुरुमय और गुरु शिष्यमय हो जाता है। तभी गुरु और शिष्य का परिपूर्ण मिलन एवं गुरु शक्ति और शिष्य शक्ति की परिपूर्ण सार्थकता होती हैं।

दशमोपदेश

'तत्वानुसन्धान'

हमारे लिए जितना भी ज्ञातव्य है उन सबको दार्शनिकों ने तीन तत्वों में अन्तर्भुक्त करके निर्देश किया है, - अर्थात् जीव, जगत और ईश्वर । ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं - एक दूसरे का आश्रय करके ही इनका साक्षात् परिचय होता है । जगत् और ईश्वर के सम्पर्क में ही जीव का परिचय होता है, जीव और ईश्वर के सम्पर्क में ही जगत् का परिचय तथा, जीव जगत् के सम्पर्क में ही ईश्वर का परिचय होता है; इस सम्पर्क के बिना किसी का कोई परिचय देना सम्भव नहीं, किसी के सम्पर्क में कुछ कहना, यहाँ तक कि सोचना भी संम्भव नहीं । ये तीनों तत्व परस्पर आभिङ्गन करके ही नित्य विद्यमान रहते हैं, इन तीनों की सम्मिलित सत्ता ही परिपूर्ण सत्ता है । जीव के स्वरूप का निर्देश साधारणतः 'मैं' या 'अहम्' के रूप में किया जा सकता है । 'अहम्' ही कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता, द्रष्टा, श्रोता और मन्ता है । कर्म, भोग, ज्ञान, दर्शन, श्रवण, मनन, इत्यादि कार्यों के सम्बन्ध में किसी प्रकार की धारणा करने में ही उनके आश्रय रूप में एक 'मैं' अथवा 'अहम्' की धारण करना आवश्यक हो जाता है । कर्त्ता के विना कर्म नहीं होता, भोक्ता के बिना भोग नहीं होता, ज्ञाता के बिना ज्ञान नहीं होता इत्यादि, कर्म, भोग, ज्ञानादि का जो आश्रय है वही मैं ''अहम्' वा जीव है । मेरे कर्म, भोग, ज्ञान, दर्शन, श्रवण, मनन आदि का आश्रय जिस प्रकार यह 'मैं' है, उसी प्रकार अन्यत्र भी कर्म, भोग, ज्ञानादि की विद्यमानता हम अनुभव करते हैं, अतएव उन उन स्थलों पर भी एक एक 'मैं' का अनुभव हमें होता हैं । इसी प्रकार हमारी अभिज्ञता के राज्य में असंख्य 'मैं' की सत्ता हमें स्वीकार करनी पड़ती है । सुतरां हमारे ज्ञान में जीव असंख्य हैं । चैतन्य ही जीवमात्र का प्रधान धर्म या लक्षण है । चैतन्य के बिना किसी भी व्यापार का प्रकाश नहीं होता । चैतन्य के बिना कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि संभव

नहीं होते। चैतन्य ही सब प्रकार के व्यापारों के आश्रय है। चैतन्यधर्मों असंख्य 'अहम्' समूह ही जीवतत्व है।

दूसरे पक्ष में विषय के बिना कर्म, भोग, ज्ञान, दर्शन, श्रवण, मनन आदि व्यापारों के अस्तित्व की कल्पना करना भी सम्भव नहीं। कर्म होने में कार्य आवश्यक है, भोग होने में भोग्य आवश्यक और ज्ञान होने में ज्ञेय आवश्यक है, इसी प्रकार दर्शन, श्रवण, मनन आदि होने में दृश्य, श्रव्य, मन्तव्य आदि रूपों में विषय की सत्ता आवश्यक होगी। कार्य, भोग्य, ज्ञेय आदि विषयों के बिना कर्म, भोग, ज्ञानादि व्यापारों के किसी अर्थ को ही धारणा नहीं की जा सकती। व्यापारों का जिस प्रकार असंख्य श्रेणी भेद है विषयों के भी उसी प्रकार असंख्य श्रेणीभेद हैं। यह विषय राज्य ही 'जगत' नाम से अभिहित होता है। असंख्यप्रकारविषयसमन्वित देश काल में सुविस्तृत, सर्वतः प्रसारित, अन्तर में तथा बाहर अनुभूयमान, कार्य, भोग्य, ज्ञेय, दृश्य, श्रव्य, चिन्तनीय आदि रूपों में प्रकाशमान यह विशाल राज्य ही 'जगत' नाम [illegible] है। आश्रय का धर्म जिस प्रकार चैतन्य है, उसी प्रकार विषय का धर्म है 'जड़ता'। जीव च[illegible] है, जगत् जड़ है। जीव प्रकाश है, जगत् प्रकाश्य है। जीव स्थिर है, जगत् परिवर्तनशील है। आश्रय स्थानीय जीव की नित्यता रहने से ही विषय-स्थानीय सदापरिवर्तनशील जगत् का ऐक्य उसके निकट प्रतिभात होता है।

यह विषय जगत् स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन रूपों में प्रतीयमान होता है। स्थूल विषय-समूह के साथ आश्रयस्थानीय जीव के सम्बन्ध-स्थापन के लिए स्थूल इन्द्रिय शक्ति या बहिःकरण विद्यमान है, सूक्ष्म विषय समूह के साथ जीव के सम्बन्ध के लिए सूक्ष्म इन्द्रिय शक्ति या अन्तःकरण विद्यमान है। विषय राज्य की कारणावस्था रूप अव्यक्त जगत् के साथ जीव के सम्बन्ध स्थापन के लिए कोई इन्द्रिय या करण नहीं है, एवं यह सम्बन्ध किस प्रकार का है, वह भी अनिर्वचनीय है। विभिन्न श्रेणी के दार्शनिक विभिन्न उपायों से इस सम्बन्ध की व्याख्या करने की चेष्टा किये हैं। परन्तु वह हमारे इस प्रसङ्ग में आलोच्य नहीं है। यह करण समूह भी जीव का आश्रय करके ही है, अतएव जगत् के ही अन्तर्भुक्त है। जीव या 'अहम्' विषय और करण के अतीत है-

अर्थात् पाञ्च-भौतिक जगत् और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के ऊर्ध्व शुद्ध चैतन्यमय है ।

हमारे साधारण ज्ञान में ज़ीव और जगत् के परस्पर सम्बन्ध में ही दोनों का परिचय मिलता है । आश्रय के सम्बन्ध के बिना विषय की कोई धारणा ही नहीं होती, एवं विषय के सम्बन्ध के बिना आश्रय का भी कोई परिचय नहीं मिलता। कार्यभोग्य-ज्ञेयादि विषयों के कर्ता भोक्ता आदि रूपों में ही चेतन जीव का परिचय होता है, उसी रूप में हम अपने अस्तित्व को जानते हैं, बूझते हैं और धारण कर पाते हैं । नहीं तो हमारा अस्तित्व और स्वरूप हमारे निकट भी अपरिज्ञात ही रहता । विषय प्रतिफलित होकर ही अपने सत्ता और स्वरूप के सम्बन्ध में हमारा बोधोदय होता है । फिर मेरे सम्बन्ध के बिना मेरे कार्य भोग्य, ज्ञेय, अनुभाव्य आदि रूपों में प्रतिभात हुए बिना विषय जगत् के अस्तित्व और स्वरूप की कल्पना ही करना संभव नहीं । सुतरां दोनों की सत्ता और स्वरूप एक दूसरे को आश्रय करके ही विद्यमान रहते हैं ।

असंख्य चेतन जीव या 'अहम्' एवं असंख्य जड़ विषय का 'इदंम्' को लेकर ही विश्वब्रह्माण्ड है । यह चेतन जड़मय-आश्रय विषयमत-ज्ञातृज्ञेयमय-भोक्तृभोग्यमय-कर्तृकार्यमय-विशाल विश्व जिनसे उत्पन्न होता है, जिनका आश्रय लेकर विद्यमान रहता है, जिनके द्वारा सुश्रृंखल रूप में नियन्त्रित है और अन्त में जिनके भीतर विलीन हो जाता है, ऐसे एक अद्वितीय पूर्णचैतन्यमय परम पुरुष की सत्ता विविध सूक्ष्म विचार द्वारा तत्वविद् दार्शनिकों ने निर्धारित किया है एवं उनको ईश्वर, परमात्मा, भगवान्, ब्रह्म आदि नामों से अभिहित किया गया है ।

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्व सर्वतश्व यः ।
यश्व सर्वमयो नित्यं परमात्मा स उच्यते ॥

इस विश्व जगत् में विचारनिपुण दृष्टि के निकट सब प्रकार के भेद और वैषम्यों के भीतर जो आश्चर्यमय साम्य श्रृङ्खला और सामञ्जस्य निःसंशयरूप से प्रतीयमान होता है, विश्व के प्रत्येक विभाग में प्रत्येक व्यापार के भीतर जो अखण्डनीय नियम का राजत्व परिदृष्ट होता है, व्यापक दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ

की उत्पत्ति, स्थिति, गति और परिणाम के भीतर जो निगूढ़ उद्देश्य प्रतिभास होता है, उसका कोई कारण, उपरोक्त सर्वकारण कारण अद्वितीय महासत्ता को बिना स्वीकार किये, निर्देश करना संभव न होगा, विश्वजगत का एक सौसामञ्जस्यपूर्ण धारणा करना संभव न होगा। एक अद्वितीय परमेश्वर की सत्ता से ही सब जीव और जड़ की सत्ता है, उसकी इच्छा द्वारा ही सबके सभी व्यापार नियन्त्रित होते हैं, उसका स्वभावनिहित निगूढ़ उद्देश्य ही जीव जगत के भीतर विचित्र रूप में प्रकाशित और साधित होता है। उससे जीव जगत् में भेद के बीच अभेद, वैचित्र्य के बीच साम्य, विचित्र के बीच साम्य, विचित्र परिणामों के बीच एक ऊर्ध्वाभिमुखी गति नित्य विद्यमान रहती है।

हमारे ज्ञान में जिस प्रकार जीव और जगत् का परिचय परस्पर सम्पर्काधीन है, ईश्वर का परिचय भी उसी प्रकार जीव और जगत के साथ उनके सम्बन्ध का अवलंबन करने से ही होता है। ज्ञानी, भक्त, और कर्मी महात्मागण उनको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वैश्वर्यसम्पन्न, सर्वकल्याणगुणाकर, सृष्टिस्थितिप्रलयकर्त्ता, कर्मकर्मफलविधाता, दयामय, प्रेममय, आनन्दमय, सौन्दर्य माधुर्यमय, आदि नाना प्रकार के विभूषणों से विभूषित करके वर्णन करते हैं, एवं नाना छन्दों में नाना भाषाओं में उनके अनुपम सर्वातीत माहात्म्य का कीर्तन करके अपने को कृतार्थ समझते हैं। किन्तु लक्ष्य करने से ही देखा जाता है कि, ये सभी विशेषण आपेक्षिक हैं। जीव और जगत के सम्बन्ध को छोड़कर किसी भी विशेषण का कुछ अर्थ नहीं होता। जीव जगत के सृष्टि कार्य में व्यापृत रहने से ही उनको सृष्टिकर्ता कहा जाता है। अन्त में सब सृष्टपदार्थों को अपने भीतर अव्यक्तरूप में विलीन कर लेते हैं, इसी से प्रलयकर्ता रूप में उनका वर्णन होता है। देशकाल में सीमाहीन असंख्यपदार्थराशिसमन्वित इस विशाल विश्व के एकमात्र सृष्टिस्थिति प्रलयकर्त्ता होने के कारण ही वे सर्वशक्तिमान उपाधि से भूषित होते हैं। इस विश्व के प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति, गति उनके ज्ञान में नित्य प्रकाशित रहने से ही सर्वज्ञता उनका विशेषण है।

अविद्याग्रस्त संसारतापक्लिष्ट कर्मफलप्रपीड़ित पापपुण्य में निरत जीवगण अपने सम्पर्क में ही इस विश्व के कर्त्ता और नियन्ता परमेश्वर को

कर्मकर्मफलविधाता, पाप के दण्डदाता और पुण्य के पुरस्कर्त्ता, राजाधिराज कहकर वर्णन करते हैं। प्रेमिक भक्तगण अपनी प्रेमपूत दृष्टि से जीव-जगत् को सौन्दर्य माधुर्यमय देखकर, उसके कारण रूप में उनको परम सुन्दर परम मधुर कहकर ध्यान और आराधना करते हैं। जगत् में पापी तापी दुःखदैन्यग्रस्त वेदनाभिभूत कृपाभिखारी जीव विद्यमान हैं, इसी कारण उनको दयामय अहैतुककृपासिन्धु आदि विशेषणों से गौरवान्वित किया जाता है। विचित्रप्रकृतिविशिष्ट जीव-जगत् के साथ सम्बन्ध को बाद देने से, भगवन् के सब विशेषण, सब शक्ति और गुणों का वर्णन, सब नाम और रूप निरर्थक हो जाते हैं। जीव और जगत् के अन्दर प्रतिबिम्बित होकर ही उनका स्वरूप अनन्यसाधारण ज्ञानगुणशक्तिसौन्दर्यविशिष्ट होकर प्रकाशित होता है।

जीव जगत और ईश्वर-अहं, इदं और तत् एक दूसरे से नित्य संश्लिष्ट रहते हैं, एवं परस्पर के सम्पर्क में ही प्रत्येक के स्व स्वरूप की अभिव्ययक्ति होती है। इस विचार दृष्टि का अवलम्बन करने पर विश्वकारण जीवजगदाश्रय निरूपमगुणशक्तिविशिष्ट भगवान की सत्ता एक हिसाब से जीव और जगत की सत्ता के साथ समजातीय तत्व विचार में सत्ता का प्रकार भेद स्वीकार करने पर परस्पर सम्बन्ध विशिष्ट और परस्पर संपर्क में परिचय सब तत्व ही समसत्ता विशिष्ट, समक्षेत्र में विराजमान रहते हैं। सुतरां जीव और जगत् के साथ सम्पर्कान्वित और तत्सम्पर्कपरिचय विचित्रोपाधिभूषित श्रीभगवान् को सत्ता हिसाब से जीव और जगत् के साथ अर्थात् अहं और इदं के साथ समान भूमि में विराजमान मानना ही होगा।

जीव, जगत् और ईश्वर स्वरूप और सम्बन्धनिर्णय की प्रचेष्टा से ही विचारशील मानव समाज में नाना प्रकार के दार्शनिक मतवादों की सृष्टि हुई, नाना जातीय सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। जड़ देहेन्द्रिय और जड़ विषय के साथ जो सम्बन्ध हैं, उसके बिना जीव के सत्ता और स्वरूप का परिचय इस जगत् में उपलब्धिगोचर नहीं होता। जड़ देहेन्द्रिय के अवलंबन से और जड़ विषय के सम्बन्ध से ही चेतन जीव अपने को जगत् में अभिव्यक्त करता है। प्रतिनियत परिवर्तनशील देह के भीतर नित्य अपरिणामी आत्मरूप में विराजमान रहने पर

भी जीव, देह के साथ अपने को एकीभूत करके-देह का धर्म अपने में और अपना धर्म देह में आरोप करके विषय जगत् के साथ विचित्र सम्बन्ध स्थापना करता है। दैहिक धर्म विशिष्ट जीव अपने को केन्द्र करके ही अर्थात् निजप्रयोजनानुसारिणी दृष्टि का अवलंबन करके ही-जगत् व्यापार की आलोचना करता है, एवं जब विचारशक्ति का विकास होता है और ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में एक धारणा हो जाती है, तब भी अपने को तथा प्रत्यक्षीभूत विषय जगत को केन्द्र करके ही तत्सम्पर्कान्वित ईश्वर के स्वरूप की आलोचना करता है । कहना नहीं होगा कि, असंख्य जीव देहों के मध्य केवल मानव देह में ही इस विचार शक्ति का उद्बोधन होता है, एकमात्र मानव देह में ही जीवात्मा अपने को विषय जगत् से स्वतन्त्र सत्ताविशिष्ट 'अहम्' रूप में सज्ञान अनुभव करता है, जगत् को अपना दृश्य, भोग्य कार्य, ज्ञेय आदि रूपों में पर्यवेक्षण करने में समर्थ होता है एवं अपने और विश्व जगत् के स्रष्टा पाता, नियन्ता, सर्वकारण एक ईश्वर के अस्तित्व को धारणा गोचर करने में समर्थ होता है ।

मनुष्य की विचारशक्ति के क्रमविकास के एक एक स्तर पर अपने स्वरूप के सम्बन्ध में, जगत् के स्वरूप सम्बन्ध और ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में धारणा और विचार की प्रणाली परिवर्तित होती रहती है । जब तक और जिस मात्रा में देह में उसका आत्मबोध रहता है, एवं वासना कामना द्वारा उसकी विचारशक्ति प्रभावित रहती है, तब तक और उसी मात्रा में देह को केन्द्र करके तथा वासना कामना को भित्ति बनाकर ही जीव, जगत् और ईश्वर का स्वरूप और सम्बन्ध उसके प्रतीतिगोचर होते रहते हैं । विचार शक्ति की सब प्रकार की वासना कामना सब प्रकार के संस्कार और आसक्ति सब प्रकार के प्रयोजन और संकीर्ण दृष्टि से मुक्त करके, विशुद्ध सार्वजनिक विचार प्रणाली में प्रतिष्ठित करने पर इन सब तत्वों के सम्बन्ध में किस प्रकार सुनिश्चित सिद्धांत पर पहुँचा जाता है, यह निर्धारण करने की प्रचेष्टा ही दार्शनिक गवेषणा का कार्य है । किन्तु इस प्रचेष्टा के रहने पर भी विचारशक्ति सर्वबन्धनमुक्त न हो सकने से प्रायः सम्यक्दृष्टि प्राप्त नहीं होती, एवं नाना प्रकार के मतभेद स्वभावतः ही उपस्थित होते हैं ।

मनुष्य ज्ञानोन्मेष के साथ ही साथ अपने सम्मुख इस विशाल विषय जगत् को फैला हुआ देखता है एवं स्वभाव से ही उसकी विचारशक्ति की प्रचेष्टा इस जगत् के साथ क्रमशः निविड़ और व्यापक परिचय स्थापन की दिशा में होती रहती है । उसके जीवन के साक्षात् प्रयोजन भी इस विषय जगत को लेकर ही होते हैं। इस जगत् के ही द्रष्टा, भोक्ता, ज्ञाता, कर्त्ता, मन्ता आदि रूपों में वह अपनी स्वतंत्र सत्ता अनुभव करता है, एवं इन जागतिक पदार्थों और व्यापारों को ही विशेष तथा सम्यक् रूप से देखने, समझने, भोग करने, चिन्तन करने और उनपर अपनी इच्छाशक्ति और कर्मशक्ति का प्रभाव डालने में ही प्रयत्नशील रहता है । उसके अन्दर जिस शक्तियों का जागरण होता है, उनके विलास और प्रयोजन साधन का क्षेत्र जगत् ही होता है, तथा जगत् से ही उसे उपादान और विषय प्राप्त होते है। सुतरां जगत् के साथ ही उसका साक्षात् सम्बन्ध प्रतिष्ठित होता है ।

इस जगत् के सम्बन्ध में ही मानवदेहधारी जीव ईश्वर के स्वरूप को समझने का प्रयास करता है । यह विषयजगत् जीव और ईश्वर के बीच में विद्यमान रह कर जीव को ईश्वर का परिचय देता है तथा जीव और ईश्वर के बीच व्यवधान की भी सृष्टि करता है । अशेषकार्यकारणश्रृङ्खलासमन्वित इस विशाल जगत् के परमकारणस्वरूप में ईश्वर के स्वरूप का अनुमान करके, मानवात्मा उसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान,-विश्वनाथ-विश्वविधाता आदि अनन्यसाधारणमाहात्म्यज्ञापक विशेषणोंसे विशेषित करके चिन्तन करता है । विषय जगत् की विशालता, वैचित्र्य और अद्‌भुत श्रृङ्खला, विश्वकारण भगवान् की अनन्तशक्ति, अनन्तज्ञान, एवं अचिंत्यसृष्टिनैपुण्य और शासनकौशल का परिचय प्रदान करते हैं । और इस परिचय द्वारा ही सूचित होता है कि, इस जगत् के एक ओर भगवान् और दूसरी ओर जीव है -- अर्थात् इस भवसागर के इस पार एक और उस पार दूसरा अवस्थित है, एक के साथ दूसरे का साक्षात् सम्बन्ध समझ में नहीं आता । जीव जगत् से चिपट गया है, और ईश्वर अपने को जगत् प्रतिफलित करके जीव के निकट परोक्षभाव से आत्मप्रकाश करते हैं । जीव के निकट जगत् जिस हद तक सत्य होता है जगत् को छोड़कर

ईश्वर का कोई परिचय उसके पास नहीं रहता ।

भगवान् के साथ जब जीव का सम्बन्ध कुछ और निकटतर होता है, जब विषय जगत् के सम्पर्क में भगवान् का चिन्तन करने की योग्यता आ जाती है, तब उनको कर्मकर्मफलविधाता, पाप के दण्डदाता और पुण्य के पुरस्कर्त्ता, न्यायवान् शासनकर्त्ता रूप में समझता है । यहाँ असंख्य जीवों के सम्पर्क में ही ईश्वर की धारणा होती है, विषय जगत् का सम्पर्क यहाँ गौण होता है । इस विचारधारा के बीच जागतिक व्यापार समूह में भी मानो जीव को केन्द्र बनाया गया है, असंख्य जीवों के कर्म और भोग, साधना और उसका फल सुनियन्त्रित रूप से सौसामञ्जस्य के साथ विधान करने के लिये ही विषय जगत् के व्यापार समूह प्रयोजनानुरूप सुष्टुरूप से नियन्त्रित होते हैं, विषय जगत् के सम्पूर्ण कार्यकारण श्रृङ्खला के मूल में जीवराज्य का कर्म कर्मफलविधान-ऐसा सिद्धांन्त होता है । जीव के लिए जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय, जीव के साथ ही ईश्वर का मुख्य सम्बन्ध एवं जीव के प्रयोजन साधन के निमित्त ही उनका जगद्विधान है । किन्तु यहाँ भी जीव के कर्म और कर्मफलों का सुश्रृङ्खल नियन्त्रण ही जिस प्रकार भगवान् की भगवत्ता का परिचय होता है, उसी प्रकार ये कर्म और कर्मफल-जीव के कर्तृत्वाभिमान और भोक्तृत्वाभिमान, जीव के पुण्यपाप और सुख-दुःख बीच में आकर भगवान् और जीव के बीच व्यवधान की सृष्टि करते हैं । सब देशों में, सब कालों में अगणित जीवों के कर्म कर्मफलविधान के भीतर ईश्वर का ईश्वरत्व जिस प्रकार प्रतिफलित होता है, उनका अप्रमेय ज्ञान, शक्ति और ऐश्वर्य जिस भाव में प्रकाशित होता है, उसी भाव में हम उनके स्वरूप का परिचय पाते हैं । यह परिचय भी गौण परिचय है, उनके साथ हमारा यह सम्बन्ध भी अव्यवहित सम्बन्ध नहीं है ।

यह परिचय जब और भी घनिष्ट होता है, तब मानवात्म अनुभव करती है कि ईश्वर बाहर से नियम प्रवर्तित करके और दण्ड विधान करके जीव के कर्म और कर्मफल को नियन्त्रित एवं जागतिक व्यापारों को परिचालित नहीं करता । वे जीव के भी अन्तर्यामी हैं और जगत् के भी । वे सब आत्माओं के भी आत्मा परमात्मा हैं । जीव और जगत् की सृष्टि करके वे उसके भीतर

अनुप्रविष्ट होकर विद्यमान रहते हैं । वे सर्वव्यापी हैं ।

इस जगत् में देहाभिमानी मानवात्मा अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए, कामना की पूर्ति के लिए, अभाव अभियोग की निवृत्ति के लिए, आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक सन्तापों की ज्वाला से अव्याहति प्राप्त करने के लिए, आनन्दसंभोग और दुःखपरिहार के लिए यथाशक्ति और यथामति पुरुषकार का प्रयोग करके, नाना प्रकार के बाधाविघ्न और घातप्रतिघात से जर्जरित हो कर जब अपने दैन्य और असामर्थ्य की उपलब्धि करता है, अपनी शक्ति और बुद्धि की कल्पना का अनुभव करता है, एवं अपने उद्देश्य सिद्धि के निमित्त एक विराट् शक्ति के आनुकूल्य की आवश्यकता हृदयंगम करता है, तब उस सम्पर्क में ही वह ईश्वर को परम कारुणिक, अहैतुक कृपासिन्धु, शरणागतवत्सल, वाञ्छाकल्पतरु आदि उपाधियों से अलंकृत करके आराधना में अग्रसर होता है। इस प्रकार जब भगवान् की चिन्ता और उपलब्धि की जाती है, मानवात्मा जब भगवान् का ऐसा परिचय प्राप्त करके उनके निकट आत्मसमर्पण करने में आग्रहान्वित होता है तब दोनों के बीच सम्बन्ध पहले की अपेक्षा अधिक परिमाण में निविड़तर हो जाता है, विषय जगत् या जीवराज्य के सम्पर्क में भगवान् का जो परिचय मिलता है, उससे तृप्त न होकर मानवात्मा अपने सम्पर्क में भगवान् का परिचय प्राप्त करने का प्रयास करती है । जीव के हृदय के साथ जो भगवद्हृदय का योग है, जीव की मर्मव्यथा का अनुभव करके उसके प्रतिकार के प्रति भगवान् की जो सदय दृष्टि होती है, भगवान् जो केवल मात्र हृदयहीन, न्यायवान, असीमशक्तिशाली सृष्टिकर्ता और शासनकर्ता ही नहीं हैं, वे जो प्राणों के अंशी, जीवों के दुःखमोचनप्रयासी ज्ञानप्रेमदाता और मुक्तिविधाता हैं-- यह परिचय जब प्राप्त होता है तब वे निजजत जान पड़ने लगते हैं, उनके प्रति भक्ति प्रेम संचरित होने लगता है, और उनको हृदय का दान करके कृतार्थ हो जाने की इच्छा होती है ।

किसी व्यक्ति के पितृत्व का अनुभव जिस प्रकार उसके संतान अपने सन्तानत्व की अनुभूति द्वारा ही कर सकते हैं, सन्तानत्व बोध वर्जित दूसरे को जिस प्रकार उसका वह पितृत्व उपलब्धिगोचर होना सम्भव नहीं, उसी प्रकार

उसका स्वामित्व जैसे उसकी पत्नी अपने पत्नीत्व की अनुभूति के द्वारा ही अनुभव कर सकती है, दूसरी नारी का जैसे उसके मध्य स्वामित्व की उपलब्धि का अधिकार नहीं होता, उसी प्रकार मानवआत्मा अपने दैन्य और अक्षमता की उपलब्धि के साथ-साथ शरणागति की अनुभूति के द्वारा ही भगवान् के स्वरूपनिहित दयावत्ता, वात्सल्य, और वाञ्छाकल्पतरुत्व की उपलब्धि करने में समर्थ होता है । इस अनुभूति का अभाव रहने पर केवलमात्र विचार की सहायता से उनकी करुणा या वात्सल्य की उपलब्धि सम्भव नहीं । हृदय की अनुभूति के द्वारा ही हृदय का परिचय प्राप्त करना संभव होता है, प्रेम की अनुभूति द्वारा प्रेम का परिचय प्राप्त होना संभव होता है ।

सुतरां भगवान् को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्, न्यायवान और कर्म कर्मफलविधाता रूप में जानने की अपेक्षा दयामय रूप में जानने के भीतर जीव और ईश्वर का घनिष्टतर सम्बन्ध होता है, गम्भीरतर ज्ञान का परिचय मिलता है । जीव और ईश्वर के बीच इस क्षेत्र में व्यवधान कम रहता है । पूर्वोक्त ज्ञान की तुलना में यह ज्ञान अपरोक्ष है । यहाँ जीव मानो भगवान के सम्मुख होकर उनका परिचय प्राप्त करता है, विषय जगत् और जीवों के सम्बन्ध के व्यापारों की ओर दृष्टि रखकर भगवत्स्वरूप के विषय में अनुमान नहीं करता ।

जब भगवान् के इस स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है, तब जीव जगत् और विषयजगत् की ओर देखकर भी सर्वत्र उनकी दया का निदर्शन मिलता है। तव देखा जाता है कि जगत् की कार्यकारण श्रृंङ्खला के अन्दर तथा जीवों के कर्मकर्मफलविधान के अन्दर भी भगवान् की दया ही कार्य करती है, उनके करुणा-निर्झर से ही विश्व के सभी नियम प्रवाहित होते हैं । समस्त विश्वप्रकृति तब करुणा की प्रतिमूर्ति रूप में प्रकट होती है । तब इस बात की ही उपलब्धि होती है कि जीव को अपने आत्मस्वरूप की विस्मृति और संसार बन्धन की ज्वाला से मुक्ति प्रदान करने के उद्देश्य से एवं सम्यक ज्ञान, प्रेम और आनन्द में प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से ही जीव जगत् और विषयजगत् की सारी नियम श्रृंङ्खला प्रवर्तित होती है ।

किन्तु तब भी जीव और ईश्वर के बीच सब व्यवधान तिरोहित नहीं

होते। जीव की दैन्य और अक्षमता की अनुभूति, दुःख और पाप से मुक्ति प्राप्त करने की उसकी प्रवृत्ति, सम्पूर्ण ज्ञान शक्ति और ऐश्वर्य के आधार श्री भगवान् के निकट उसका आत्मसमर्पण और शरणापत्ति, जिस प्रकार एक ओर उसको भगवान् के करुणामयत्व का परिचय देते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर भगवान् के साथ उसका व्यवधान की कायम रखते हैं। जीव और अल्पज्ञ है ईश्वर सर्वज्ञ, जीव दुर्बल ईश्वर सर्वशक्तिमान्, जीव मायाधीन, पाशबद्ध, दुखज्वाला यन्त्रणा से जर्जरित है एवं ईश्वर मायाधीश सर्वपाशविमुक्त तथा नित्य परमानन्द में प्रतिष्ठित है। जीव-कृपा का भिखारी और ईश्वर कृपासिन्धु, ईश्वर के निकट जीव की कोई मांग नहीं, ईश्वर स्वयं करुणाविगलित होकर अपनी शक्ति से उसका वाञ्छापूरण करते हैं और उसके दुःखतापविमुक्ति की व्यवस्था करते हैं। जीव शरणागत है ईश्वर शरणागतवत्सल अर्थात् जीव को आश्रय देने के लिए सर्वदा प्रस्तुत रहते हैं। इस पार्थक्य की अनुभूति के बिना ईश्वर की दया की अनुभूति होती।

जीव और ईश्वर का सम्बन्ध जब और घनिष्ठ होता है, जीव की वासना कामना एवं तज्जनित पापताप और दुर्बलता की अनुभूति जब तिरोहित हो जाती है, जीव जब अपने ऐहिक और पारत्रिक, वैषयिक और आध्यात्मिक, किसी प्रकार के प्रयोजन साधन या अभिलाषापूरण के लिए ईश्वर के शरणागत न होकर, विशुद्ध ज्ञान और प्रेम में उनसे मिलित होना चाहता है, तब ईश्वर ज्ञानमय और प्रेममय स्वरूप में उसके निकट आत्मपरिचय प्रदान करते हैं। ईश्वर जीव को प्रेम करते हैं, वह ईश्वर का निज जन है, उनका आत्मविलास क्षेत्र है, उनके आत्मप्रकाश का स्थल है। अपने स्वरूप का और माधुर्य, गुण शक्ति और शक्ति का स्वयं सम्भोग करने के लिए ही वे असंख्य चेतन जीवों का स्वयं सृजन करते हैं और उनको असंख्य प्रकार की जागतिक अवस्थाओं में डालकर उनके सम्पर्क में अपने को विचित्र रूपों में प्रकाश और संभोग करते हैं। सब जीव ही यदि ज्ञानी प्रेमी आनन्दपूर्ण होते तब तो विचित्र रूपों में भगवत्स्वरूप का विलास ही सम्भव न होता। इसी कारण जगत् के भीतर के जीव समूह को विचित्र प्रकृति विशिष्ट, विचित्र अवस्था परिवेष्ठित एवं ज्ञान प्रेम

और आनन्द के विचित्र स्तरों पर अवस्थित करके सृष्टि करते हैं। किन्तु सबमें ही उनका अंश रहता है, सब उन्हीं के लीला-सहचर हैं, उनके ही भावों के प्रकाशक हैं। सुतरां यह बात नहीं है कि जीव सर्वथा क्षुद्र है और उनकी करुणा का भिखारी है। उनके बिना जिस प्रकार जीव का काम नहीं चल सकता उसी प्रकार जीव समूह के बिना उनका भी काम नहीं चलता। जीव और ईश्वर का सर्वत्र मेल है। दोनों के बीच विशुद्ध प्रेम का सम्बन्ध है।

जिस मनुष्य की आत्मा भगवान् के इस प्रेमस्वरूपत्व की उपलब्धि करती है अर्थात् जो भगवान् के साथ अपने और जीव मात्र के इस नित्य घनिष्ट सम्बन्ध का अनुभव करता है उसके निकट भगवान् की सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता, सृष्टि स्थिति प्रलय कर्तृत्व आदि विशेषण समूह नितान्त गौण लक्षण प्रतीयमान होते हैं। वे सब शक्ति, ज्ञान और ऐश्वर्य उसकी कोई बड़ी चीजें नही जान पड़ती, इनके द्वारा भगवान् का यथार्थ महात्म्य प्रख्यापित नहीं होता। जो जीव विषय जगत् को ही जितना बड़ा समझता है उसको वह प्रगत्प्रसविनी शक्ति, जगन्नियामक ज्ञात तथा जगदधीश्वरत्व का ऐश्वर्य उतना ही बड़ा प्रतीत होता है। जो जीव वासना कामना द्वारा इस जगत के क्षुद्र अंशों में जितना ही आबद्ध होकर विचरण करता है, एवं अपनी क्षुद्रता के मापदण्ड द्वारा जगत् का परिचय प्राप्त करने की जितनी ही चेष्टा करता है, उसको जगत् उतना ही बड़ा जान पड़ता है। वस्तुतः यह जगत् वासना कामना का ही बाह्यरूप है। जागतिक वासना कामना जितना ही तिरोहित होती है, जगत् उतना ही छोटा होता जाता है, अकिञ्चित्कर होता जाता है और जीव स्वयं ही उतना बड़ा हो जाता है, उसके ज्ञान का मापदण्ड भी उतना ही बढ़ जाता है। कामनावासनामुक्त शुद्ध जीव के ज्ञान में, जगत् की विशालता और वैचित्र्य के सम्पर्क में भगवान् की भगवत्ता का जितना प्रकाश होता है, वह उसे तुच्छ और अकिञ्चित्कर जान पड़ता है, जीव के अभाव अभियोग का निराकरण तथा उसको आश्रय दान के सम्पर्क से भगवान् की भगवत्ता का जितना प्रकाश होता है वह भी कुछ विशेष महिमान्वित नहीं जान पड़ता। जीव और ईश्वर के बीच जो स्वभावतः नित्यसम्बन्ध है उसी के अन्दर भगवान् की भगवत्ता का यथार्थ प्रकाश होता

है। ईश्वर स्वरूपतः पूर्णसच्चिदानन्दमय है एवं जीव ईश्वर का ही खण्ड खण्ड सचिच्दानन्दघन रूप में बहुधा आत्मप्रकाश है। दोनों के बीच नित्य प्रेम का सम्बन्ध है। दोनों दोनों के ही नितान्त निज जन हैं। सुतरां इस क्षेत्र में कोई संकोच नहीं, कोई बाधा नहीं, कोई कुण्ठा नहीं।

अतएव कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेम के बिना प्रेम की उपलब्धि संभव नहीं। जीव जब स्वयं समस्त अन्तःकरण को प्रेम से भरपूर करने में समर्थ होता है, उसकी दृष्टि जब प्रेमपूत हो जाती है, तभी भगवान् को वह अखण्ड प्रेममय रूप में अनुभव करने में समर्थ होता है। प्रेम अहैतुक आत्मदानकारी तथा परस्पर बशीकारी होता है। प्रेमी भक्त भगवान् से कुछ नहीं चाहता, स्वभावतः प्राणों के आकर्षण से भगवान् के निकट आत्मसमर्पण कर देता है एवं प्रेम की दृष्टि से भगवान् के सब कार्यों का निरीक्षण और सम्भोग करता है। इस दृष्टि के सम्मुख भगवान् का प्रेमस्वरूप प्रकट होता है एवं उनकी सब लीलाओं के सौन्दर्य और माधुर्य का अनुभव और आस्वादन प्राप्त होता। समस्त विश्वप्रकृति भगवान् का ही लीलाविलास होने से निरतिशय सुन्दर बन जाती है। वह सर्वत्र ही सौन्दर्य माधुर्य और आनन्द का सम्भोग करता है। वह जिस प्रकार से प्रेम में आत्मदान करके सम्पूर्ण रूप से भगवान् का हो जाता है, भगवान् भी प्रेम में उसके निकट आत्मदान करते हैं और उसके वशीभूत रूप में अनुभूत होते हैं। जीवराज्य की और विषयराज्य की सभी नियमश्रृंखला भगवान् के प्रेम के उद्गमस्थान से ही प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है। सब कुछ प्रेम से ही गठित जान पड़ती है। इस प्रेम में जीव का चित्त जिस भाव से भावित होता है, भगवान् भी उसी के अनुरूप भावमय देह में ही उसके निकट प्रकाशित होते हैं। पितृरूप, में मातृरूप सखारूप में या सखीरूप में, स्वामीरूप में, या स्त्रीरूप में, पुत्ररूप में या कन्यारूप में, जिस किसी रूप में प्रेममय भगवान् प्रेमी भक्त के निकट आत्मपरिचय प्रदान करते हैं, और वे सभी रूप सत्य हैं उनमें से कोई भी मिथ्या या कल्पना नहीं है।

प्रेम जब गाढ़ होकर मानवात्मा की समग्र सत्ता को भगवन्मय कर देता है, तब वह अपनी सत्ता और जगत् की सत्ता को सम्पूर्ण रूप से विस्मृत होकर

एक मात्र भगवान् का ही अनुभव करता है। उसकी अनुभूति में ईश्वर से भिन्न और किसी का अस्तित्व नहीं रहता। एकमात्र यही अनुभूति होती रहती है कि सच्चित्प्रेमानन्दघन भगवान् ही अपनी महिमा में नित्यपरिपूर्ण स्वरूप में विराजमान हैं। जीव तब उपलब्धि स्वरूप हो जाता है। तब द्रष्टा दृश्य और दर्शन, अनुभविता, अनुभाव्य और अनुभव तथा आस्वादक आस्वाद्य और आस्वादन के बीच कोई भेद नहीं रहता।

जो लोग भक्ति और प्रेम का अनुशीलन न करके अर्थात् भक्ति भावित और प्रेमभावित दृष्टि न प्राप्त करके केवल ज्ञान का अनुशीलन करते हैं तथा निरपेक्ष ज्ञान की दृष्टि से भगवत्तत्व का अनुसन्धान करते हैं। ऐसी मानवात्मायें भगवान को करुणामय और प्रेममय रूप में अनुभव नहीं करती, भगवान् का करुणामय और प्रेममय स्वरूप उनको सत्य नहीं जान पड़त, भगवान् के सृष्टिस्थिति प्रलय कारित्व के समान करुणामयत्व और प्रेममयत्व को भी वे आपेक्षिक और औपाधिक समझकर उसे छोड़कर उनके निरपेक्ष और निरूपाधिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सूक्ष्म विचार मार्ग का अवलम्बन करते हैं। जीव और जगत को सत्य मानकर, उनके सम्पर्क में ही ईश्वर जिन भावों में, जिन शक्ति, गुण, ज्ञान, ऐश्वर्य, दया, प्रेम आदि उपाधियों से युक्त होकर आत्म परिचय प्रदान करते हैं, वे सभी भाव आपेक्षिक और औपाधिक हैं, उनके द्वारा ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का परिचय नहीं मिलता। इन विशेषणों द्वारा इसका ज्ञान नहीं होता कि जीवजगत्निरपेक्षस्वरूप में ईश्वर कैसा है। ज्ञानीगण उसी स्वरूपानुसन्धान में रत रहते हैं। इस अनुसन्धान के फलस्वरूप यह बोध होता है कि ईश्वर के सम्बन्ध में निरपेक्षभाव से किसी भी विशेषण का प्रयोग करना सम्भव नहीं। तथापि ईश्वर जब जीव और जगत् का एकमात्र कारण है तब उसका कार्यनिरपेक्ष स्वरूप अवश्य होना चाहिए। जीव और जगत् की सत्ता उनकी सत्ता पर निर्भर होती है परन्तु उनकी सत्ता जीव जगत् की सत्ता पर निर्भर नहीं होती। उनकी शक्ति से ही जीव और जगत् की उत्पत्ति होती है, परन्तु जीव और जगत् की उत्पत्ति की अपेक्षा न करके भी उनका एक स्वतन्त्र स्वरूप है। ईश्वर का वह स्वरूप कैसा है ?

इस तत्वानुसन्धान के फलस्वरूप ज्ञानीगण ईश्वर को परमार्थतः जीवजगन्निरपेक्ष भाव से सत्यस्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्द स्वरूप वाला निर्धारित करते हैं। वे अपनी सत्ता से सत्तावान् हैं, वे अपनी ही चैतन्य ज्योति से स्वयंप्रकाश है, वे स्वरूप में नित्य परिपूर्ण होने से परमानन्द में प्रतिष्ठित रहते हैं। इसके अतिरिक्त उनके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता या सोचा जा सकता है, कुछ कहने या सोचने की चेष्टा करते ही किसी दूसरी वस्तु की-जीव जगत् की-सत्ता की अपेक्षा होती है। सतुरां उनको 'सत्यं ज्ञानमन्तम्' 'प्रज्ञानमानन्दम्' आदि रूपों में ही वर्णित किया जाता है।

परस्पर संश्लिष्ट तीन तत्वों के बीच दो के प्रति उदासीन होकर यदि तीसरे तत्व को ऐसे स्वतन्त्र निरपेक्ष भाव से धारणा करने की चेष्टा की जाय तो उस धारणा का अपूर्ण जान पड़ना ही स्वभाविक होगा। किन्तु इस क्षेत्र में ऐसा नहीं किया गया है, तीनों के बीच सर्ववादिसम्मतिक्रम से यही सम्बन्ध निरूपित हुआ है कि जीव और जगत् ईश्वर का कार्य है, ईश्वर के आश्रित है, ईश्वर द्वारा नियन्त्रित है, ईश्वर की सत्ता से उसकी सत्ता है, एवं ईश्वर उसके एकमात्र कारण हैं एकमात्र आश्रय और नियन्ता और एकमात्र स्वतन्त्र सत्ता से सत्तावान् हैं। कार्य और कारण के सम्बन्ध का सूक्ष्मरूप से विचार करने पर यही सिद्धान्त होता है कि कारण की सत्ता के बिना कार्य की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, कारण ही कार्य का यथार्थ स्वरूप है। कारणनिहित शक्ति ही कार्यरूप में प्रतिभासित होती है, एवम् वह शक्ति कारण वस्तु से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है। कार्य शक्ति से अभिन्न है एवं शक्ति कारण से अभिन्न है। सतुरां कारण ही वस्तुतः विद्यमान है, कार्य की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। कारण ही विभिन्न नामों और विभिन्न रूपों में प्रतिभात होकर कार्य कहलाता है। जीव और जगत भी ईश्वर का कार्य होने से उनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती, उनके साथ ईश्वर का सम्बन्ध भी वास्तविक नहीं है।

अतएव जीव और जगत् के सम्बन्ध में ईश्वर की जितनी उपाधियों का निरूपण होता है, वे उसके वास्तविक स्वरूप नहीं हैं, उनके द्वारा उसके निजस्वरूप का परिचय नहीं मिलता। जब कि जीव और जगत् वस्तुतः वे ही

हैं तब अपने ही साथ अपना सम्बन्ध कैसा ? सर्वसम्बन्धातीत सच्चिदानन्द स्वरूप ही उनका यथार्थ परिचय है । इस परिचय के प्राप्त हो जाने पर जीव अपने को ईश्वर से अभिन्न रूप में अनुभव करता है । इस अनुभूति में 'मैं' 'तुम' या 'वह' नहीं रहता, 'एकमेवाद्वितीयम्' । निष्कलं, निष्क्रियं, शान्तं, निरवद्यं निरञ्जनं, ''सर्वोपाधिविनिर्मुक्त द्वैताद्वैतविवर्जितम्'' ब्रह्म को ही तब अपना पारमार्थिक स्वरूप मानता और अनुभव करता है । इस ज्ञान के साथ विषय जगत् की ओर दृष्टिपात करने पर भी सर्वत्र वह उसी एक ब्रह्म का ही दर्शन करता है । प्रत्येक शब्द, प्रत्येक रूप, प्रत्येक रस, प्रत्येक गन्ध मानो बोलते हैं 'अहं ब्रह्मास्मि' प्रत्येक आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भावों का अन्तर्भेद करके मानो उच्चारित हो रहा है 'अहं ब्रह्मास्मि' । उनकी ज्ञानमयी दृष्टि प्रत्येक का सम्बोधन करके मानो बोलती रहती है 'तत्त्वमसि' 'तत्त्वमसि' । वह प्रत्यक्ष अनुभव करता है,

> ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
> अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

सब 'अहम्' सब 'त्वम्' सब 'इदम्' सब 'तत्' तब उसी अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप में ही प्रत्यक्षीभूत होता है । तभी उसका अनुसन्धान सार्थक्यमण्डित होता है ।

एकादशोपदेश

"ईशावास्यमिदं सर्वम् ।"

ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में मानवमात्र के मनुष्योचित जीवन विकास के उद्देश्य से एक सुमहान् सार्वजनीन आदर्श सुस्पष्ट भाषा में परिव्यक्त हुआ है । मन्त्र यह है --

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

मन्त्र में तीन उपदेश हैं । प्रथमतः इस विश्व ब्रह्माण्ड में (जगती में) जो कुछ परिणाम शील (जगत्) पदार्थ है, वह सब ईश्वर द्वारा परिव्याप्त जानना चाहिए, अर्थात् सर्वत्र ही ईश्वर की मङ्गलमयी प्रेमानन्द सुन्दर सिद्धानसत्ता अनुभव करनी चाहिए, एवं यह समझना चाहिए कि ईश्वर से भिन्नसत्ताविशिष्ट कुछ भी नहीं है । द्वितीयतः उनके द्वारा जो कुछ त्यक्त वा प्रदत्त है उससे ही अपना भोग सम्पन्न करना चाहिए -- अर्थात् जो कुछ भोग सामग्री तुम्हें किसी अन्य से प्राप्त होता है अथवा अपने प्रयत्न द्वारा प्राप्त करते हो, वह सब ईश्वर की प्रसन्नता से पाते हो, वह सब ईश्वर की वस्तु है और ईश्वर से तुमको मिला है, ईश्वर के दान के अतिरिक्त अपना कुछ नहीं है, इसीप्रकार की आन्तरिक अनुभूति के साथ, सुसंयत ओर सुपवित्र भाव से कृतज्ञ और भक्ति युक्त चित्त से भोग करते हुए अपना जीवन परिपालन करना चाहिए । तृतीयतः, किसी के धन पर लोभ नहीं करना चाहिए - अर्थात् वीर्य में, ऐश्वर्य में, ज्ञान में, विद्या में, बुद्धि में, यशमान में, प्रभाव प्रतिपत्ति में, किसी प्रकार की सम्पत्ति में किसी की अपनी अपेक्षा अधिक धनी देखकर तुम ईर्ष्या न करो, न उसी सम्पत्ति को प्राप्त कर लेने की इच्छा करो, जो तुम्हारा अधिकार है उसी से सन्तुष्ट रहो । इन उपदेशों का थोड़ा विश्लेषण करना आवश्यक है । हम लोगों के इन्द्रिय मन

और बुद्धि के विषय रूप में जो कुछ देख पड़ता है, वह सर्व 'जगत्' अर्थात् गतिशील, अस्थिर, कालाधीन है, इन सबका उत्पत्ति, स्थिति और विनाश है, विकार और परिणाम है, इनमें से कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है, निर्विकार नहीं है, अपने स्वरूप में नियत रूप से स्थित नहीं है, अपनी सत्ता से सत्तावान नहींहै, अपने चैतन्य से प्रकाशमान नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु किसी कारण में से उत्पन्न होती है और विनाशकाल में विलीन हो जाती है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि के विषय रूप में ही उनका प्रकाश होता है इन्द्रिय, मन और बुद्धि के सम्पर्क व्यतीत उनकी सत्ता की कल्पना ही करना कठिन है। ऐसे सभी उत्पत्ति-स्थिति-विनाशशील पदार्थों की समष्टि ही जगती है (Cosmos)। इस जगती में भी कुछ जगत् है। किन्तु देश अथवा काल में इस जगती का आदि या अन्त नहीं मिलता। जगत् प्रवाह रूप में इस जगती का नित्य कहा जा सकता है। किन्तु अतीत वर्तमान ओर अनागत, स्थूल और सूक्ष्म, कार्यकारण-सम्बन्धान्वित, असंख्य, नित्य, परिणामशील सभी पदार्थों की समष्टि रूप जो जगती है, उसका देश या काल की सीमा में आरम्भ अथवा अन्त कल्पना करना असम्भव होने पर भी, उसको अपनी सत्ता से सत्तावान्, स्वयंप्रकाशशील, कारणान्तरनिरपेक्ष एक नित्य पदार्थ के रूप में धारणा करना भी सम्भव नहीं है बहुत के समष्टि रूप में जो प्रकाशित है उसके अन्तराल में 'एक' का होना आवश्यम्भावी है। एक अखण्ड सत्ता ही अनेक को एक सूत्र में नांधकर-ऐक्यबद्ध करके अविछिन्न समष्टि रूप में धारण-पोषण और प्रकाश कर सकता है। बहुतों का मिलन करने वाले इसी एक के संग में उन बहुतों का प्राणगत, मूलगत, कारणगत, स्वरूपगत ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध होना आवश्यक है जिससे उन बहुतों की सत्ता के अभ्यन्तर में इस एक की सत्ता अन्तर्निहित और प्रकाशित होकर अपने स्वरूपगत ऐक्यद्वारा उन बहुतों को-राई से पर्वत तक-प्रत्येक को प्राण रूप में सम्मिलित कर सकता है, एक ही जीवन्त समष्टि वस्तु के अङ्ग-प्रत्यङ्ग रूप में उन सबको विकसित कर सकता है, जिससे कि उस सुमहान एक का अखण्ड ऐक्य किसी प्रकार खण्डित वा विभक्त न होवे। मिलनकारी एक और विभागकारी अनेक के अभ्यन्तरीण सत्तागत एक निगूढ़ ऐक्य के विद्यमान रहने से ही एक,

श्रृङ्खलासमन्वित, सौसामञ्जस्यपूर्ण, सुनियन्त्रित समष्टि की सृष्टि, स्थिति और विकास सम्भव हो सकता है इस आद्यन्तरहित विशाल जगती के प्राणस्वरूप में, इस प्रकार की एक भेदरहित, निर्विकार, नित्य, स्वप्रकाश 'एक' की सत्ता अवश्य स्वीकार करने योग्य है । उस एक का तत्व आगे आलोचित होगा । सम्प्रति इस जगती के साथ एक और घनिष्ट परिचय कर लिया जाय ।

हम लोगों के इन्द्रियग्राम के सम्मुख अनन्त - विस्तारयुक्त अनन्त वैचित्र्यसम्पन्न शब्दस्पर्शरूपरसगन्धमय एक विशाल विश्व के नित्य परिणामिनी सत्ता का परिचय हमें ज्ञान के उन्मेष होने से मिलता है । ज्ञान की व्यापकता और गम्भीरता जितनी बढ़ती है, उतना ही हम समझ पाते हैं कि क्या विशालता की ओर, क्या सूक्ष्मता की ओर, क्या विचित्र की ओर, किसी ओर भी इसका कोई अन्त नहीं मिलता । इसके मध्य शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध की कितनी विचित्रता इन सबके विचित्र परिणाम के मध्य कितनी अद्‌भुत श्रृङ्खला है । सब प्रकार के घात प्रतिघात और आदान प्रदान के मध्य में, उत्पत्ति स्थिति, गति, विनाश के मध्य में, मधुरता कोमलता, भीषणता और वीभत्सता के मध्य में, सौन्दर्य, कदर्य, ऐश्वर्य और दैन्य के मध्य में, विश्व के सब स्थानों पर कितने आश्चर्य के नियमों का राजत्व, कैसी अचिन्त्यकार्यकारण-श्रृङ्खला और सौसामञ्जस्यपूर्ण समावेश है ! हमारे इन्द्रियगण विस्मय में मुग्ध होकर इन सबका सुष्टुतर व्यापकतर और निबिड़तर परिचय पाने के उद्देश्य से अपनी-अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं । हम लोगों का मन इन सबकी ओर स्वभाव से ही आकृष्ट होकर इन्द्रियों का अनुवर्ती होता है एवं क्रमशः विशाल से विशालतर एवं सूक्ष्म से सूक्ष्मतर क्षेत्र में जाकर उपनीत होता है । हमारी बुद्धि उत्सुकता के वशीभूत होकर इन्द्रिय और मन द्वारा आनीत, संग्रहीत, कल्पित और अनुमति इन सब विषयों के तथ्यानुसन्धान में निरत रहती है । इन्द्रिय समूह के स्वभाव सिद्ध शक्ति को बर्धित करने के लिए हमारी बुद्धिशक्ति कितने यन्त्रों का आविष्कार करती है, कितना प्रयास करती है ।

इन्द्रिय, मन, बुद्धि जितना ही अग्रसर होते जाते हैं उतना ही उनकी शक्तियों का विकास होता जाता है और उतना ही मानो वे नये-नये जगत् का

परिचय पाते जाते हैं। नये-नये तथ्यों के आविष्कार के आनन्द से उनके विस्मय और औत्सुक्य क्रमशः बढ़ते जाते हैं और उनका ज्ञातव्य समाप्त नहीं होता, नशे में विभोर होकर वे आगे बढ़ते जाते हैं, परन्तु इस विश्व के आदि या अन्त का पता नहीं पाते। क्रमशः यह धारणा जम जाती है कि इस इन्द्रिय-ग्राह्य विषय जगत् के भी आदि अन्त या मध्य का पता लगाना इसके समग्र स्वरूप को यथार्थ रूप में जान सकना हम लोगों के लिए सम्भव नहीं है।

"न रूपमस्येह तथोपलभ्यं नान्तो न चादिर्त च सम्प्रतिष्ठा।"

यह अनन्तवैचित्र्यप्रवाहसमन्वित सार्वदेशिक सार्वकालिक, सुविशाल विश्व चिरकाल तक हमारे निकट ज्ञातव्य ही बना रहेगा, कभी परिज्ञात नहीं होगा, कभी इसके समग्र स्वरूप का सविशेष भाव में हमारे धारणागोचर होने की सम्भावना नहीं है।

दूसरी ओर से विचार करने पर और भी विस्मित होना पड़ता है। देश-काल में सीमाहीन यह शब्दस्पर्शरूपरसगन्धमय विश्व अपने अनन्त विस्तार में अनन्त वैचित्र्य में अनन्तश्रेणी विभाग में चाहे कितना ही हमारी धारणा के अगोचर क्यों न हो, हमारी ज्ञानशक्ति, कल्पनाशक्ति तथा धारणाशक्ति की चाहे कितनी क्षुद्रता का प्रतिपादन क्यों न करे, हमारे इन्द्रिय समूह के सम्बन्ध को छोड़कर इसका कोई स्वरूप नहीं, सत्ता ही नहीं। श्रवणशक्ति के सम्बन्ध में ही शब्द की सत्ता है और शब्द का शब्दत्व है; दर्शनशक्ति के सम्पर्क में ही रूप का अस्तित्व और रूप का रूपत्व गन्ध और स्पर्श की स्वरूपसत्ता रसना नासिका और त्वगिन्द्रिय के सम्पर्क में ही सम्भव है, नहीं तो उनका कोई अर्थ ही नहीं होता। इस रूपरसगन्धस्पर्शशब्द का कितना ही वैचित्र्य कितना ही विस्तार, कितना ही श्रेणी विभाग, कितना ही परिणाम क्यों न हो, इन्द्रिय समूह के विषय रूप में ही उनकी अभिव्यक्ति होती है। इस विश्व में यदि कर्ण, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका न होते तो शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध न होते तो श्रोत्रत्वक् चक्षुरसना और नासिका के अस्तित्व का भी कोई परिचय न पाया जाता। इन्द्रिय

जगत् एक सूत्र में ग्रथित हैं, परस्पर में एक दूसरे को आश्रय करके ही एक दूसरे की स्वरूपाभिव्यक्ति है, परस्पर के सम्पर्क में ही एक दूसरे की सत्ता है, उत्पत्ति, स्थिति और विनाश हैं। इन्द्रिय और विषय एक दूसरे में अनुप्रविष्ट रहकर ही निज निज स्वरूप को प्राप्त होते हैं।

एवम्बिध शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध के आधार रूप में ही आकाश वायु अग्नि, जल और क्षिति की सत्ता है। इन्हीं पञ्चमहाभूतों के द्वारा ही हमारा ज्ञेय जड़ जगत् गठित है। कहना नहीं होगा कि हमारे स्थूलेन्द्रियग्राह्य सुपरिचित मिट्टी, जल, आग और हवा उपरोक्त महाभूत नहीं हैं, एवं इन्द्रियग्राह्य वस्तु का अभावरूप आकाश या शून्य एक महाभूत नहीं है। शब्द ही जिसका गुण है, एकमात्र शब्द ही के द्वारा जिसका परिचय मिलता है, उसी का नाम आकाश है। इसी प्रकार केवल स्पर्शगुण, रूपगुण, रसगुण और गन्धगुण के द्वारा ही जिन कोई मूल विषय वस्तुओं की सत्ता का परिचय प्राप्त होता है उन्हीं का नाम वायु, अग्नि, जल और क्षिति है। हमारे परिचय वायु अग्नि जल और क्षिति तो पाञ्चभौतिक पदार्थ हैं, मिश्र वस्तु हैं। आधुनिक रसायन शास्त्र में जिनको मूल वस्तु कहते हैं, वे सभी पाञ्चभौतिक पदार्थ हैं। भौतिक पदार्थ, उनके मध्य परस्पर का सम्बन्ध और घात-प्रतिघात, उनके विचित्र परिणाम और कार्य-कलाप, उनमें प्रकट होने वाली विचित्र शक्तियों का खेल एवं उनकी उत्पत्ति, स्थिति, गति, क्रिया, सम्बन्ध परिणाम और विनाश के नियामक प्राकृतिक विधान समूह ही हमारे सभी जड़ विज्ञानों के आलोच्य विषय हैं। मूलभूत तत्व इन सब विज्ञानों का आलोच्य विषय नहीं है। उच्चतर और गंभीरतर दार्शनिक विचार के क्षेत्र में ही मूलभूततत्व और मूल इन्द्रियतत्व के विषय में आलोचना होती है।

यहाँ प्रसङ्ग से एक और बात का उल्लेख किया जा सकता है। वह यह है कि विशुद्ध रूपरसगन्धस्पर्शशब्द के साथ हमारा भी साक्षात् परिचय नहीं होता। विशेष-विशेष रूप, विशेष-विशेष रस, विशेष-विशेष गन्ध, विशेष-विशेष स्पर्श और विशेष-विशेष शब्द के साथ ही हमारी इन्द्रियों का परिचय होता है। गुण समूह का विशेष-विशेष परिणाम ही हमारी स्थूल इन्द्रियाँ ग्रहण

और धारण कर पाती है । फिर शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध के ऐसे अनेक परिणाम और अवस्था भी हैं जो हमारे इन्द्रिय समूह की वर्तमान अवस्था में धारणा गोचर नहीं होते । योगशास्त्रोपदिष्ट विशेष संयम के अभ्यास से - धारणा, ध्यान, समाधि के समुचित अनुशीलन से-इन्द्रियों की अन्तर्निहित शक्तियाँ ऐसी विकसित हो जाती हैं कि जिनको साधारण अवस्था में हम इन्द्रियों के अगोचर,-दर्शन-श्रवणादि के बहिर्भूत मानते थे-ऐसी मान्यता पर जड़विज्ञान समूह अपना अनुसंधान आरम्भ करता है-उन शब्दस्पर्शरूपादि के ऐसे अनेक परिणाम तब इन्द्रियगोचर होते हैं तथा व्यवहार योग्य हो जाते हैं । केवल इतना ही नहीं शब्दस्पर्शरूपादि का एक-एक विशुद्ध अविकृत निर्विशेष स्वरूप हैं, जो विशेष प्रकार का शब्दस्पर्श या रूपादि नहीं है, जो है शब्दमात्र, स्पर्शमात्र, रूपमात्र आदि-वह भी इन्द्रिय समूह के संयमानुशीलन से प्रत्यक्षीभूत होता है ।

जो कुछ इन्द्रियों के प्रत्यक्ष गोचर है, जो कुछ उपर्युक्त यन्त्र और कर्णादि की सहायता से किंवा ध्यान, धारणा, समाधि प्रभृति योगाङ्ग समूह के अनुशीलन द्वारा इन्द्रियों के प्रत्यक्ष गोचर हो सकता है एवं उनके मध्य जो सब उत्पत्ति, स्थिति, लय, जो सब विकार, परिणाम संघर्ष और सहयोगिता, जो सब श्रृङ्खला विधायक अलंघनीय नियमप्रणाली, जो सब शक्तियों का प्रकाश है - इन सबका समष्टि ही वाह्य जगत्. नाम से परिचित है । इसके भीतर कितने सौरमण्डल, कितने ग्रह नक्षत्र, कितने अणु परमाणु, कितने जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज जीव देह, कितने कठिन तरल और वायवीय जड़पदार्थ, कितने सृष्टि प्रलय, कितने रूप रूपान्तर, कितने अतीत वर्तमान और भविष्यत् कितने दूर और निकट हैं । सबही इस वाह्य जगत् के अन्तर्भुक्त हैं ।

किन्तु यह बाह्य जगत् जगती का एक पाद मात्र है । इस बाह्य जगत् की कोई भी वस्तु अपनी सत्ता से सत्तावान नहीं है, कुछ भी स्वयं प्रकाश नहीं है । इन्द्रिय और मन के सम्पर्क के बिना इस जगत् के किसी भी वस्तु के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किसी वस्तु के अस्तित्व का निरूपण नहीं किया जा सकता । इन्द्रिय और मन में प्रतिफलित होकर ही उनके मध्य रूप रस गन्ध स्पर्श शब्तादि गुण, एवं ऐश्वर्य माधुर्य और सौन्दर्य, क्षुद्रत्व, महत्व

और विशालत्व आदि का अनुभव होता है । इन्द्रिय मन और बुद्धि अपने अन्तर्निहित भाव रस और चिन्ता द्वारा वासित करके जिन जिन रूपों में उनको ग्रहण और धारण करते हैं, वहीं हमारे लिए उनका स्वरूप होता है । इन्द्रिय मन और बुद्धि के द्वार पर आघात करके अपने को उनके ग्रहण योग्य और धारणयोग्य करना ही उनके अस्तित्व का प्रमाण है । सुतरांइस जगत् का अस्तित्व आपेक्षिक है, यह मानना ही पड़ेगा ।

बाह्य जगत् से भिन्न जातीय एक दूसरे जगत् का परिचय हम अपने भीतर पाते हैं । इस जगत् में कितनी चिन्ता भावना और सुख दुःख, कितना शोक ताप और आनन्दोल्लास, कितना रागद्वेष हिंसा घृणा, कितना काम क्रोध और भक्ति प्रेम, कितनी भोग लिप्सा और सेवाकांक्षा, कितनी ज्ञानपिपासा और कर्मप्रेरणा, कितनी विरहव्यथा और मिलनानन्द, कितना सत्यमिथ्या, सुन्दर कुत्सित, उचितानुचित, उन्नतावनत, और हेयोपादेय के पार्थक्यबोध की अनुभूति द्वारा ही यह जगत् निर्मित है । यहाँ पर सब अनुभूतिमय है । इस जगत् का नाम है मनोमय जगत् । इस मनोमय जगत् को आश्रय करके ही बाह्य जगत् का विचित्र प्रकाश और स्वरूपा-भिव्यक्ति, एवं बाह्य जगत् के अवलम्बन से ही मनोजगत् की भी अनुभूतियों का वैचित्र्य और भाव वैचित्र्य अभ्युदित होता है । मनोजगत् में यदि शब्दबोध, रूपबोध, रसबोध स्पर्शबोध और गन्धबोध न होता तो बहिर्जगत् में भी शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध के अस्तित्व का कोई प्रमाण न होता। मन के भीतर ही भीतर और बाहर का एक पार्थक्य बोध रहता है । इसी कारण अपने बाहर भी एक जगत् को स्वीकार करने के लिये हम बाध्य हो जाते हैं । मन के भीतर देशकाल की अनुभूति रहने के कारण बहिर्जगत् में उच्चनीच, क्षुद्र, वृहत्, निकट दूर, संयोग वियोग, तथा अतीत वर्तमान और भविष्यत् का हम अनुभव करते रहते हैं, एवं इस ज्ञान की सत्यता के विषय में हम सन्देह नहीं करते । बाह्य जगत् में हम जो अच्छा बुरा, सुन्दर कुत्सित, हेयोपादेय, नियम श्रृङ्खला और उसका व्यतिक्रम आदि जो कुछ देखते हैं, अनुभूतिमय जगत् का छाप लगाकर उसके द्वारा अनुरञ्जित करके ही हम देखते हैं और विचार करते हैं । मनोजगत् के धर्मों को बाद देने से बाह्य जगत् में प्रायः कुछ रह

ही नहीं जाता, वह एक अनिवर्चनीय सत्ता में परिणत हो जाता है ।

इस अनुभूति जगत् के शीर्षदेश पर हम एक प्रकार के विशिष्ट भावान्वित अनुभूति का प्रकार पाते हैं । उसका बुद्धि जगत् कह सकते हैं । इस बुद्धि जगत् में ही सत्य और मिथ्या का मापदण्ड होता है, सुन्दर और कुत्सितका, अच्छे और बुरे का, उचितानुचित, हेयोपादेय और उन्नतावनत का मापदण्ड होता है । इसी जगत् में सत्य, सुन्दर और मङ्गल का आदर्श विराजमान रहता है । इसी आदर्श की कसौटी पर ही मनोजगत् और वहिर्जगत् के सब ज्ञान, भाव, कर्म और विषय की परीक्षा होती है । यही आदर्शानुभूति और उसके प्रयोग द्वारा सब आन्तर और बाह्य व्यापारों की परीक्षा ही बुद्धि का अपना धर्म है । बुद्धि जितनी निर्मल होती है मनो जगत् के निम्नस्तरों के ज्ञान, भाव, इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादि के प्रभाव से मुक्त होकर जितना ही स्वरूप में प्रकाशित होती है; उतना ही समुज्ज्वल भाव में सत्य शिव सुन्दर का आदर्श भी प्रकट होता है, एवं उसके आलोक में सभी अन्तर और बाह्य पदार्थों का शोभन विचार होता है और उनका यथार्थ तत्व उपलब्ध होता है । इस सम्पूर्ण अनुभूतिमय जगत् के केन्द्र स्थल पर एक और विशेष अनुभूति होती है वह है 'अहम्' की अनुभूति । यह 'अहम्' सब मनोव्यापार और बुद्धिव्यापारों का ऐक्य साधन करता है एवं उसी में समग्र आन्तर और बाह्य जगत् की एक सूत्र में आबद्ध रखता है । इन्द्रिय जगत् का विचित्र प्रत्यक्ष, मनोजगत् के विचित्र अनुभूतियों के परिणाम, बुद्धि जगत् के विचित्र विचार और अध्यवसाय-ये सभी एक के ही प्रत्यक्ष, एक ही अनुभूति, एक के ही विचार, प्रत्यक्ष, अनुभूति और विचार के सब प्रकार के भेद और परिवर्तन के बीच एक ही प्रत्यक्षकर्त्ता, अनुभवकर्त्ता और विचारक नित्यविद्यमान 'अहम्' की अनुभूति ही उन सबका साक्ष्य प्रदान करता है । 'अहम्' का अनुभूति प्रवाह सभी ज्ञान भाव और कर्म के अन्तराल में रहता है, अतएव देहेन्द्रियमान बुद्धि के इतने विचित्र परिणामों के रहने पर भी हमारे जीवन का ऐक्य जैसे अक्षुण्ण रहता है, वैसे ही बाह्य जगत् के इतने वैचित्र्य और वैषम्य के सर्वदा हमारे इन्द्रियमन बुद्धि पर आघात करने पर भी उनके बीच हम ऐक्य देखते रहते हैं । सुतरां बाह्य जगत् और आन्तर जगत्

के स्वरूपगठन के बीच इस 'अहम्' का बोध का एक विशिष्ट अनुपम स्थान है ।

यह पाञ्चभौतिक जगत्, मनोजगत्, बुद्धिजगत् और अहम् जगत् की ऐक्यबद्ध समष्टि ही ईशोपनिषद् को 'जगती' है । इस जगती में बहुत्व के बीच एकत्व अनुस्यूत, एवं एकत्व के मध्य बहुतत्व का सुचारू समावेश है - एकत्व के सम्पर्क में बहुका परिचय और बहुत्व के सम्पर्क में एक का परिचय है । इस जगती के बहुधा विभक्त होने पर भी इसका ऐक्य अक्षुण्ण है । इस जगती को भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपनी अष्टधा विभक्त अपरा प्रकृति कहकर परिचय दिया है ।

भूमिरापोऽनलो वायुः खंमनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

एक भगवान् की ही प्रकृति या शक्ति अष्टधा विभक्त होकर अहंकार, बुद्धि, मन, और पञ्चमहाभूत रूप में अभिव्यक्त है एवं इन आठ तत्वों के ही विचित्र अभिव्यंक्ति से विश्वब्रह्माण्ड की सृष्टि है । प्रकृति जब विचित्र प्रकार से आत्म प्रकार करती है, शक्ति जब विचित्र क्रिया रूप में अपने को अभिव्यक्त करती है, तभी सृष्टि होती है । वैचित्र्य जब ऐक्य के मध्य अभिभक्त अवस्था में रहता है, कार्य प्रवाह जब शक्ति रूप में विद्यमान रहकर अप्रकाशमान रहता है, तभी प्रलय रहता है । प्रकृति या शक्ति के एकीभूति अविभक्त अवस्था का नाम 'अव्यक्त' या 'अव्याकृत' है । जब किसी की अभिव्यक्ति नहीं रहती, प्रकाश नहीं रहता, सब कुछ आवत, समाच्छादित रहता है, "तमः आसीत् तमसा गूढ़मग्रे ।" प्रकृति की बहुविकृतियों में - असंख्य प्रकार के रूपों में- अभिव्यक्त अवस्था का ही नाम है व्यक्त जगत् । मूलशक्ति का विचित्र कार्य रूप में विलास ही यह जगती है । अव्यक्त अवस्था में बहुका आवरण रहता है, एक का स्वस्वरूप में अवस्थिति रहती है -- "आनीद्वातम् स्वधया तदेकम् ।" व्यक्तावस्था में बहुका विलास, एक का आवरण रहता है -- मानो एक अपने को बलिदान करके, विश्वयज्ञ में आहुति प्रदान करके, अपनी सत्ता से असंख्य सत्ताओं की सृष्टि करके, अपने को असंख्य नाम रूपों में परिणत करके, इस

विचित्र परिणति के बीच अपने को खो देते हैं। क्या समष्टि जगत् में और क्या व्यष्टि जगत् में, सभी क्षेत्रों में ही अव्यक्तावस्था में व्यक्तावस्था में एवं व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था में यातायात चलता रहता है, शक्ति कार्यरूप में अभिव्यक्ति एवं कार्य की शक्तिरूप में परिणति चलती रहती है, एक का बहुरूपों में प्रकाश एवं बहुका एक स्वरूप में आत्मगोपन चलता रहता है। समय विश्व में, विश्व के प्रत्येक विभाग में, प्रत्येक विभाग के प्रत्येक पदार्थ में यह सृष्टि प्रलय का प्रवाह चलता रहता है। काल में इस प्रवाह का आरम्भ नहीं पर्यवसान नहीं, और देश में इस प्रवाह का आदि नहीं, अन्त नहीं।

व्यक्त जगत् विचित्र विलास के मध्य उन सबका मूलीभूत 'एक' जो अपने को वास्तव में खोता नहीं, बहु के अन्तराल में 'एक' जो पूर्णभाव में जीवन्त रहता है, बहुके प्राणस्वरूप में, अन्तर्यामी नियामक स्वरूप में 'एक' जो सर्वत्र ही नित्य विद्यमान है, उसका जाज्वल्यमान प्रमाण यह है कि विश्व के सब वस्तुओं और व्यापारों के बीच एक अच्छेद्य योग सूत्र रहता है, जगत् के सभी विभागों में नियमश्रृंखला का एक अपराजेय प्रभाव राजत्व करता है, सारे परिणाम, संघर्ष, भङ्गनिर्माण, उत्पतिध्वंस के भीतर से एक निगूढ़ आदर्श का क्रमविकास एक निगूढ़ अभिसन्धि की क्रमपूर्ति-सूक्ष्म विचार और व्यापक दृष्टि के सम्मुख प्रतिभात होता है। विश्व व्यापर की जितनी ही सूक्ष्मभाव से और व्यापक भाव से पर्यालोचना की जाय, उतना ही सुदृढ़ विश्वास उत्पन्न होता है कि, समस्त जगत् मानो एक विराट् प्राणवान् अङ्गी, एक विचित्रावयवसम्पन्न देशकालापरिछिन्न सुमहान् जीवन्त देह एवं इसका प्रत्येक विभाग और तदन्तर्भुक्त प्रत्येक पदार्थ मानो उसका अङ्ग प्रत्यङ्ग है। जीवदेह के अवयव समूह के समान विश्व का प्रत्येक व्यापार मानो एक ही केन्द्रीय प्राणशक्ति के द्वारा सुनियन्त्रित है, समग्र के सम्बन्ध में ही प्रत्येक की सार्थकता है। समग्र विश्व का अन्तर्यामी एक अव्याहत अनन्त प्राणशक्ति ही मानो अपने अन्तर्निहित आदर्श को असंख्य विचित्र अवयवों के भीतर से नाना काल में नाना देश में नाना विधि वस्तु और व्यापार की सृष्टि-स्थिति प्रलय के भीतर से-विचित्र भावों में प्रकट करके अत्युद्भुत सौसामञ्जस्यपूर्ण साम्य-श्रृङ्खलासमन्वित

ऐश्वर्यमाधुर्यसम्पन्न विराट् विश्वदेह की रचना करती है । इस विश्व में जिस स्थान में, जिस काल में, जिस अवस्था में, जिस अंग में या उपांग में, जैसे साज में, जो व्यापार जिस प्रकार के भाव में संघटित होने से सुशोभन होता है, वैसे ही भाव में सब सज्जित होता है, वैसे ही भाव में प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति स्थिति समावेश क्षय और ध्वंस होता है । नियम विरूद्ध कहीं कुछ नहीं होता, समग्र से विच्छिन्न होकर कहीं कोई व्यापार घटित नहीं होता, सर्वान्तर्यामी सुमहान् ऐक्य को नष्ट वा क्षुण्य करके कुछ भी उत्पन्न या रूपान्तरित या विनष्ट नहीं होता । एक के ही भीतर बहुत प्रस्फुटित और विलसित होता है । एक को ही विचित्र भावों में प्रतिभात कराना बहुका स्वभाव है, फ़िर अन्त में एक के ही भीतर बहु विलीन हो जाता है, एक के भीतर अविभक्त होकर ही अव्यक्तावस्था में बहुकी अवस्थिति रहती है । एक और बहु परस्पर में आलिंगन करके, एक दूसरे में अनुप्रवृष्ट होकर, एक दूसरे के साथ अङ्गांगीभाव में अभिव्यक्त होकर, यह अखण्ड प्राणशक्ति नियन्त्रित है, अविच्छिन्न धारा में प्रवाहित है, अनेक कार्य कारण श्रृङ्खलासमन्वित विश्वप्रक्रियारूप में आत्मप्रकाश करती हैं । एक प्राणरूप में विराजमान है, बहु अङ्ग प्रत्यङ्गरूप में सुविकसित है, एवं उसीसे समग्रदेह का ऐक्य संरक्षित है । बहुका बाहरी नाम रूपवैशिष्टय जैसे स्थूलतः एक को आवृत करके बहुकी सत्ता को ही प्रधान भाव से दिखाता है, बहु के भीतर जो साम्य श्रृङ्खला, सुसमावेश, सौसामञ्जस्य है, वही फिर वैसे ही बहुके अन्तराल में विराजमान प्रभुशक्तिसम्पन्न एक की समुज्ज्वल भाव में प्रकट करता है, एवं बहुके भीतर एक का प्रभाव जो अक्षुण्ण रहता है, बहु जो एक के ही अधीन, एक के ही अंगीभूत रहता है, एक को ही विचित्र अभिव्यक्ति करता है, यह सब उसी बात का निर्देश करते हैं ।

एक सूत्र में ग्रथित, एक प्राण द्वारा विधृत, एक के ही अङ्ग प्रत्यङ्गरूप में विकसित यह जो आन्तर और वाह्य अनन्त वैचित्र्य है, उसकी समष्टि ही जगती है इस वैचित्र्य के बीच साम्य की जितनी उपलब्धि होती है, बहु के बीच एक का जितना दर्शन किया जाता है, एवं एक भावान्वित दृष्टि द्वारा एक के सम्पर्क में इस जगती के असंख्य पदार्थ और विचित्र बाह्य और आन्तर व्यापार

समूह का जितना दर्शन किया जाता है, उतना ही यथार्थ दर्शन होता है। यह आद्यन्तविहीन नियत जन्मस्थितिपरिणामविनाशशील असंख्य प्रकारभेदसम्पन्न आन्तर बाह्य पदार्थराजि के समष्टि का नाम जगती है, एवं जिस एक के द्वारा वह जगती विधृत और संजीवित है, जिस एक की व्यक्तमूर्ति के अङ्ग प्रत्यङ्ग रूप में इसके सभी पदार्थ निश्चय विचित्र रूपों में अभिव्यक्त है, जिस एक के द्वारा इसके अतीत वर्तमान और भविष्यत सभी व्यापारप्रवाह नियन्त्रित होते हैं, जो एक इसका 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी' है, उसी का नाम है ईश्वर।

जगती का तत्त्व अवगत हो जाने पर उसमें सर्वत्र ईश्वर की सत्ता उपलब्धिगोचर होती है। इस विश्व में जो कुछ उत्पन्न होता है, जो कुछ संघटित होता है, जो कुछ विनाश को प्राप्त होता है, जो कोई पदार्थ जिस किसी भाव में परिणाम को प्राप्त होता है, उसी के भीतर से ईश्वर कीसत्ता अभिव्यक्त होती है, उसी के अन्दर एक महान् ईश्वर का ईश्वरत्व आत्मप्रकाश करता है, उसी के भीतर ईश्वर की सृष्टिशक्ति, पालनी शक्ति, नियन्त्री शक्ति और संहर्त्री शक्ति प्रकट होती है। सृष्टि के पूर्व ये सभी पदार्थ ईश्वर के अन्दर अव्यक्त अवस्था में अनभिव्यक्त कारण स्वरूप में विद्यमान रहता है। व्यक्त अवस्था में ईश्वर को आश्रय करके, ईश्वर की ऐसा शक्ति द्वारा सृष्ट, विधृत और नियन्त्रित होकर, ऐसी शक्ति के ही विचित्र अभिव्यक्त रूप में ये सभी पदार्थ विकसित होते हैं। ध्वन्स को प्राप्त होने पर फिर ये सब उन्हीं के अन्दर अव्यक्त और अविभक्त भाव में विलीन रहते हैं। उनकी सत्ता को छोड़कर किसी की कोई सत्ता नहीं है। उनके विचित्र आत्मप्रकाश के संकल्प से स्वतन्त्र कोई प्राकृतिक नियम जगती के किसी अंश का शासन नहीं करता। सब कुछ ईश्वर के द्वारा, ईश्वर के ही लिए, उनके ही निगूढ़ उद्देश्य के साधन के निमित्त उत्पत्ति और विकास को प्राप्त होता है, एवं उनके ही विधान का अनुवर्ती होकर और उन्हीं का आश्रय लेकर, सुरक्षित सुसमावेशित, सुपरिचालित ओर सुसंहृत होते रहते हैं। ईश्वर ही इस जगती के और तदन्तर्भुक्त प्रत्येक वस्तु के प्राण हैं, एवं जगत मानो ईश्वर की देह है, और तदन्तर्भुक्त वस्तु समूह उन्हीं के अंग प्रत्यंग है।

ईश्वर का स्वरूप क्या है, जगती का स्वरूप क्या है, एवं ईश्वर और

जगती का यथार्थ पारमार्थिक सम्बन्ध क्या है--इसके सयुक्तिक आलोचना द्वारा सम्यक् तत्वनिरूपण की प्रचेष्टा में नाना प्रकार के दार्शनिक मतवादों की सृष्टि हुई है । द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि बहुत प्रकार के वाद इस समस्या का समाधान करने के लिए उद्भूत हुए हैं, एवं प्रत्येक वाद ही दूसरे प्रत्येक वाद का दोषख्यापन पूर्वक अपने को सुप्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है । ये सब वाद एवं उनके युक्तितर्क हमारे वर्तमान प्रबन्ध में आलोच्य नहीं हैं किन्तु ईशोपनिषद् जिस आदर्श को हमारे सम्मुख उपस्थित करता है, उसका किसी भी बाद के साथ आत्यन्तिक विरोध नहीं है। हमारे सभी साधन और सिद्धियां व्यक्तजगत को अवलम्बन करके ही हैं ।

परन्तु इन विषयों में सबका ऐक्य है किइस जगत् की सत्ता ईश्वर की सत्ता से समुत्पन्न है, इसके सब व्यापार ईश्वर द्वारा नियन्त्रित है, ईश्वर के आश्रय में ही उसकी अवस्थिति है, ईश्वर की सत्ता से स्वतन्त्र इसकी कोई सत्ता नहीं है, एक के आश्रय के बिना बहु के पक्ष में समष्टिबद्ध और सुनियन्त्रित होकर चलने की कोई सम्भावना नहीं एवं एक और बहु-ईश्वर और जगत्-अत्यन्त विभिन्न सत्तासमन्वित होने पर भी दोनों के बीच कार्यकारण या आश्रिताश्रय सम्बन्ध है जो नितान्त अयोक्तिक जान पड़ता है । किन्तु जगत् में सर्वत्र बहुत्व के विचित्र विलास का हेतु एकत्व आवृत रहता है, एक बहुधा खण्डित होकर ही प्रकाशित होता है, उसका अखण्ड एकत्व उपलब्धि गोचर नहीं होता, हम एक का बहुभाव ही देखते हैं, बहुभाव के भीतर जो एक भाव विराजमान है उसे साधारणतः हम देखते नहीं । यह दर्शन साधन सापेक्ष है । ईशोपनिषद् उसी एक अखण्ड सत्ता की बहु खण्ड सत्ता के मध्य अनुभव करने का उपदेश देता है । बहु के भीतर एक का दर्शन ही यथार्थ दशंन है । एक को केवल देखना ही नहीं होगा, अपितु प्रधानभाव में देखना होगा । क्योंकि एक ही आदि में, मध्य में और अन्त में रहता है, एक ही से सब समुद्भूत, एक में ही सब अवस्थित, एक ही बहुके प्रत्येक अणु परमाणु में अनुप्रविष्ट, तथा एक द्वारा बहु ओत प्रोत भाव में परिव्याप्त है ।

विश्व प्रकृति की प्रक्रिया का थोड़ा और सूक्ष्मभाव में पर्यवेक्षण करने

पर यह अनुभव गोचर होता है कि इसका प्रत्येक अवयव द्वन्द्व द्वारा निर्मित है, एवं प्रत्येक द्वन्द्व एक ही वस्तु की दो दिशाओं के रूप में परस्पर को आलिंगन किये हैं । यहाँ सर्वत्र प्रकाश के साथ अन्धकार, उष्णता के साथ शैत्य, उत्पत्ति के साथ विनाश, बृद्धि के साथ क्षय, सौन्दर्य के साथ कदर्यता, ज्ञान के साथ अज्ञान, प्रेम के साथ हिंसा, भोग के साथ त्याग, सुख के साथ दुःख, भाव के साथ अभाव, लाभ के साथ हानि, वीर्य के साथ दौर्बल्य, ऐश्वर्य के साथ दैन्य, मिलन के साथ वियोग, सत्य के साथ मिथ्या मानो अङ्गागीभाव में संश्लिष्ट होकर विचित्र तरंगों की सृष्टि करते हैं । इस द्वन्द्व के न रहने पर सृष्टि प्रवाह रूक जाय, जगत् का अस्तित्व न रहे । इस द्वन्द्व सृष्टि के एक पहलू को 'दैव सर्ग' एवं दूसरे को 'आसुरसर्ग' कहा जा सकता है । इस द्वन्द्व प्रवाह की एक धारा जगत् को ऐक्य की ओर, अखण्डता की ओर ले जाना चाहती है, उसका नाम है दैव सर्ग, दूसरी धारा इसको अनैक्य की ओर, बहुत्व की ओर, खण्डता की ओर ले जाना चाहती है, उसका नाम आसुरसर्ग है । एक धारा की गति केन्द्राभिमुखी एवं दूसरी की केन्द्रविमुखी है । इन दोनों धाराओं के संघर्ष से ही एक महासत्ता का असंख्य खण्ड सत्ता रूप में लीलाविलास, एक ईश्वर की साम्यश्रृङ्खलामय विचित्र जगत् रूप में आत्माभिव्यक्ति सम्भव होती है । इस देवासुर-संग्राम के भीतर से ही जगत् प्रक्रिया अव्याहत भाव में चलती रहती है ।

इस जगत्प्रक्रिया के बीच एक और आश्चर्यमय तथ्य लक्ष्य करने का विषय है । इस पञ्चभौतिक जगत् में, मनोजगत् में और बुद्धि जगत् में चाहे जितना भी द्वन्द्व रहे, चाहे जितना संघर्ष चले, समग्र विश्वव्यापार एक सुमहान् आदर्श की ओर अग्रसर हो रहा है । जहाँ पर बहुके बीच एक का आत्मप्रकाश, जहाँ देह के बीच प्राण का विलास है, वहीं पर सारी प्रक्रिया के अन्तर्निहित एक आदर्श वर्तमान है । इस आदर्श के ही द्वारा सारे व्यापार परिचालित होते हैं, उसी आदर्श को अभिव्यक्त करने की दिशा में ही सब व्यापारों की गति है । वह आदर्श ही सब व्यापारों का नियामक है । ईश्वर के स्वरूप के भीतर जो तत्व निहित है जगती के विचित्र व्यापारों के बीच वही आदर्श रूप में

अन्तर्निहित रहकर उन सबके स्वरूप और गति का नियन्त्रण करता है ।

देवसर्ग उसी आदर्श की क्रमाभिव्यक्ति के अनुकूल ईश्वर को जगत् के बीच प्रकाश करने के लिये, एक को बहु के बीच समुज्ज्वल रूप से प्रकट करने के लिये, प्रयत्नशील है । आसुर सर्ग उसके विपरीत है । वह आदर्श की प्रतिकूल दिशा में जगत् प्रक्रिया को प्रवाहित करना चाहता है, ईश्वर को आच्छादित करके जगतत्प्रवाह के बहुधाविभिन्न नानासंघर्षसमाकुल तरंगभंगियों को ही और बड़ा देना चाहता है, एक को विदलित करके मानो जगती को छिन्न भिन्न विश्रृंखलामय कर डालना चाहता है । किन्तु ईश्वर जगती के अन्तर्यामी प्राण रूप में विराजित रहकर ऐसा ही विधान कर रक्खे हैं कि सब संघर्षो के भीतर से अत्याश्चर्यरूप में वही आदर्श समुज्ज्वलरूप में क्रमशः प्रकाशित होता है, सारे देवासुर संग्राम के भीतर से देवता ही क्रमशः जययुक्त होते हैं । विश्व के बीच ज्ञान प्रेम और सौन्दर्य के निकट परिणाम में अज्ञान हिंस और कदर्यता पराजय मान लेती हैं, दैन्य और दौर्बल्य का बक्षोभेद करके ऐश्वर्य और वीर्य आत्मप्रकाश करता है, मिथ्या और कपटता का जाल छिन्न करके सत्य और सरलता विजयवैजयन्ती उड़ाता है, दुःख सुख की भित्ति रूप में परिणित होकर जगत् को आनन्दोज्ज्वल कर डालता है, भोग, त्याग के चरणों में लोट कर, त्याग को ही सम्भोगमय करके उसकी महिमा ख्यापन करता है । सत्य की जय, मङ्गल की जय, धर्म की जय, त्याग की जय, सौन्दर्य की जय आनन्द की जय,- यही जगत्प्रक्रिया का स्वरूप है, यही जगतत्प्रक्रिया का भित्तिस्थानीय ऐश्वरिक विधान है । आसुरभाव का पराजय और दैवभाव के विजय के भीतर से ईश्वर अपने को इस संघर्ष संकुल द्वन्द्वमय जगत्प्रक्रिया के बीच प्रकाशित करते हैं ।

हम लोगों की दृष्टि जितनी ही पवित्र होगी, सूक्ष्म होगी और व्यापक होगी, उतना ही हम नियत परिवर्तनशील प्रकट संघर्षसंकुल बहुके प्रत्येक अङ्ग में एक का साक्षात्कार करते हैं, विश्व में सर्वत्र ईश्वर की सत्ता अनुभव करते हैं, एवं उतना ही समस्त जगत हमारा दृष्टि में सुन्दर मधुर सत्यमय मङ्गलमय आनन्दमय होकर प्रकाशित होता है । क्रमशः सभी आसुरी शक्तियाँ दैवशक्ति के पदानत दिखाई पड़ती है, सारे अधिभौतिक व्यापार आधिदैविक भावविलास

की प्रतिच्छविरूप में हमारे सम्मुख चमकने लगते हैं। जड़ जगत् की, पशुजगत् की, मनोजगत् की सभी शक्तियाँ ईश्वर भाव प्रकाशक दैव जगत् के अधिवासी देवताओं के वाहन रूप में काम करती है, ऐसा प्रतीत होता है। समग्र बाह्य जगत और आन्तर जगत् तब मानो ईश्वर भावापन्न सचेतन-हो जाता है, सर्वत्र एक महाचैतन्य का विलास परिदृष्ट होता है। जगती तब बहु की समष्टि रूप में प्रतिभासित नहीं होती, एक सिच्चदानन्दमयी महाशक्ति रूप में आविर्भूत होकर हमारी दृष्टि को चरितार्थ करती है। एक अद्वितीय निर्विकार सिच्चदानन्दमय परमेश्वर जगती के अन्तरात्मा रूप में स्वामीरूप में नित्य विराजमान है, एवं उनकी ही परिणामशीला सच्चिदानन्दमयी महाशक्ति तत्वतः उनके साथ अभिन्न रहने पर भी अपने स्वामी को, प्राण के देवता को, कर्मज्ञान प्रेम और भोग के पूर्ण आदर्श को, अनन्त रूपों में, अनन्त नामों में, अनन्तभावों में भिन्न-भिन्न स्तरों में, नानाविधि प्रकाश और छाया के भीतर से प्रकाशित करती है। समग्र ज्ञान और वैराग्य, समग्र कृतार्थता और आनन्द उसी परिणामशीला ऐश्वरी महाशक्ति की गोद में क्रमशः अविभज्यमान रूप में विराजभान रहता है। उन सब के माहात्म्य की समुज्ज्वल भाव में प्रकट करने के लिए ही मानो वही महाशक्ति विचित्र मनोवृत्ति और इन्द्रियवृत्ति, विचित्र बुद्धिवृत्ति और अहंवृत्ति, विचित्र जड़वृत्ति और जीववृत्ति की सृष्टि करके उनके राज्य के मध्य में अर्थात् स्वरूपाभिव्यक्ति के क्षेत्र में उनकी स्थापना करती है, उनके वाहन रूप में उनके चरण तल में वे होड़ लगा कर, दौड़ादौड़ी करके विचित्र खेल खेलते हैं, एवं जान में या अनजान में, स्वेच्छा से या अनिच्छा से, महाशक्ति की वही महिमा सबके पूर्णस्वरूपाभिव्यक्ति की सहायता करती है।

यही परमेश्वराधिष्ठिता सत्यज्ञानप्रेमानन्दैश्वर्यमयी महाशक्ति का विचित्र विलास जब हम भीतर बाहर देखने में समर्थ होते हैं, तब शोक ताप का कोई कारण नहीं रह जाता, ईर्ष्या और दम्भ का कोई पात्र नहीं रहता। मैं भी उसी महाशक्ति द्वारा प्रसूत हूँ, उसी की गोद में अवस्थित हूँ तथा, हमारे सभी कर्म और भोगों के भीतर भी उसकी अभिव्यक्ति है। जिस किसी के साथ हमारा जो कोई सम्बन्ध संघठित होता है, वे सब उसी महाशक्ति के सन्तान हैं, उसी

से उद्‌भूत, उसी में स्थित, उसी के द्वारा नियंत्रित रहते हैं । उसी के ही आरम्भविहीन और अन्तविहीन महती स्वरूपसाधन के क्षेत्र में वे जिसके जिस भाव में गठित और परिचालित करती है, वह ठीक तद्रूप ही हो जाता है । जिस व्यक्ति की दृष्टि ऐसी हो जाती है, उसके चाहने के लिए कोई वस्तु नहीं रह जाती, प्राप्त करने को कुछ नहीं रहता तथा, लोभ करने को, वर्जन करने को कुछ नहीं रहता। जब तक ऐसी दृष्टि नहीं प्राप्त होती, तक तब अहं का एक स्वाधीन बोध रहता है, अपने खण्डशक्ति द्वारा प्रकट रूप से प्रतिकूलभावापन्न दिखने वाली अपरापर खण्ड शक्तियों को अभिभूत करके संसार में आत्मप्रतिष्ठा प्राप्त करने की आकांक्षा और प्रयास बना रहता है, अपने हेयोपादेय बोध को ही जगत में अच्छे बुरे का, सुन्दर कुत्सित का मापदण्ड बनाकर तदनुसार जागतिक व्यापार समूह के विचार करने की और नियन्त्रित करने की वासना बनी रहती है । इस सत्यदृष्टि के प्राप्त होने पर 'अहम्' अपने को भी उसी ऐसी महाशक्ति का ही एक विशेष घनीभूत विग्रह रूप में अनुभव करता है, उन्हीं विश्वान्तर्यामी परमेश्वर को ही अपनी अन्तरात्मा-अपना पारमार्थिक स्वरूप समझकर साक्षात्कार करता है, अपने सम्पर्क के सभी व्यापार समूह को उनकी महाशक्ति के ही विलासरूप में उपलब्धि करता है । तब स्वाधीनता और पराधीनता का भेद नहीं रह जाता, क्योंकि तब स्व और पर की भेदबुद्धि लुप्त हो जाती है । सर्वान्तर्यामी को आत्मान्तर्यामी और आत्मान्तर्यामी को सर्वान्तर्यामी समझ लेने पर सभी पर अपने हो जाते हैं, सुतरां पराधीनता का बोध दूरीभूत हो जाता है, स्वाधीनता बोध का पूर्ण विकास होता हैं ।

इस तत्वदृष्टि के प्राप्त होने पर मनुष्य उसी महाशक्ति की ही गोद में रहकर व्यावहारिक जीवन यापन करता है । बुद्धि में उसी महाशक्ति के प्राण स्वरूप सच्चिदानन्दघन परमेश्वर के साथ अपनी आत्मा का ऐक्य अनुभव करता रहता है, एवं व्यावहारिक क्षेत्र में उसके सम्मुख वही महाशक्ति अपनी लीला से जो भोगसम्भार उपस्थित करती है, वही ग्रहण और संभोग करके जीवन यापन करता है, वही महाशक्ति जिस भाव में उसके देहेन्द्रियमन बुद्धि को स्पन्दित ओर चालित करती है, आनन्द के साथ ज्ञानेच्छा सम्पन्न यन्त्र की नांई

उसी भाव में दैहिक, ऐन्द्रिक, और मानसिक कर्मसमूह सम्पादित करता है। किसी को धन सम्पत्ति, विद्या बुद्धि किंवा यशमान को यह ईर्ष्या की निगाह से नहीं देखता, न उसे पाने के लिए लोभ ही करता है। सब कुछ उस महाशक्ति की ही वस्तु हैं - उसी के विशेष विशेष आत्मप्रकाश हैं। यदि कभी कोई वासना उसके मन में उदित होती है, तो उसी विश्वजननी परमेश्वरी महाशक्ति के निकट ही उसे पूर्ण करने के लिए प्रार्थना करता है, उसके लिए व्याकुल होकर हाथ फैलाये हुए संसार के द्वार-द्वार पर घूमकर लांछना नहीं भोग करता। उस महाशक्ति के साथ अपने यथार्थ सम्बन्ध का ज्ञान हो जाने पर आगन्तुक वासनाओं की चरितार्थता या व्यर्थता से उसके चित्त में कोई उल्लास या यातना भी नहीं उपस्थित होता। माता का दिया हुआ देह और इन्द्रिय, माा की दी हुई मन और बुद्धि, माता के दिये हुये सुभोग और दुर्भोग, माता के दिये हुये सम्मान और लाञ्छना-सब कुछ वह आनन्द के साथ ग्रहण करता है, सर्वत्र ही वह सत्य और मंगल सौन्दर्य और माधुर्य का दर्शन करता है।

विश्व जगती के इस रूप को हमारे चक्षु के सम्मुख समुज्ज्वल भाव में उपस्थित करने के लिये श्रीश्रीदुर्गामूर्ति की परिकल्पना हुई है। सच्चिदानन्द परमेश्वर की आत्मप्रकाशरूपा महाशक्ति अपने को विश्वजगतीरूप में अभिव्यक्त करके दश हाथों में दश दिशाओं को परिव्याप्त करके स्थित है। द्वन्द्वमय जगत्प्रवाह के सभी राजसिक और तामसिक शक्तियों के प्रतीक स्वरूप असुर और सिंह उनके चरण के नीचे हैं-उनको आसन वनाकर वे स्थित हैं तथा विश्वलीला करती हैं। तामसिक शक्ति के भीतर अहंबोध जाग्रत न होने के कारण, वे स्वभावतः उन्हीं के वशीभूत रहते हैं, अर्थात् उनकी इच्छाशक्ति के बाहन है। आसुरिक शक्ति के भीतर अहंबोध जाग्रत होने के कारण उन लोगों की आत्मप्रतिष्ठा की आकांक्षा, अप्राप्त सम्पत्ति का लोभ, आत्मप्रचेष्टा में विश्वास, और विश्वनीति के विरूद्ध एक प्रकार का विद्रोह जागृत होता है। उसी विद्रोही अहम् को महाशक्ति बलपूर्वक पैर के नीचे दलित करती है। दश हाथों में दश प्रकार के प्रहरण विश्व के सब इन्द्रियवृत्ति, मनोवृत्ति और बुद्धिवृत्तियों को सुनियन्त्रित रखकर सबको, जान में या अनजान में, स्वेच्छा से अथवा अनिच्छा

से, सचेष्ठ भाव से अथवा निश्चेष्ठ भाव से प्रेम से अथवा द्रोह से उसी महाशक्ति के भीतर अन्तर्निहित आदर्श के अनुकूल पथ पर चलाते रहते हैं। सारे राजसिक और तामसिक शक्तिपुञ्ज जैसे चरणतल में रहक विश्वव्यापार का आनुकूल्य करते हैं, वैसे ही विशुद्ध सात्विक वीर्य और ऐश्वर्य, विद्या और सिद्धि महाशक्ति की गोद में समुज्ज्वल वरणीय मूर्तियों में प्रस्फुटित होते हैं - कार्तिक और लक्ष्मी, सरस्वती और गणेश उसकी गोद में नृत्य करते रहते हैं। विश्व की सभी दैव शक्तियाँ उसी महाशक्ति की अंगज्योति रूप में चारों ओर नृत्य करती हैं, यह देखा जाता है। सच्चिदानन्द स्वरूप शिव अन्तराल में अन्तरात्मा रूप से रहक निर्विकार भाव से स्वकीया महाशक्ति की इस विश्वलीला को देखते रहते हैं।

विश्व जगती रूपिणी भगवती महाशक्ति के निकट साधक मनुष्य आत्म निवेदन पूर्वक भीतर बाहर उन्हीं की विचित्र लीला का सन्दर्शन और सम्भोग करके कृतार्थ हो जाता है। वर्ष के अन्त में शारदीय ज्योत्स्नास्नात हास्यमयी बाह्यप्रकृति की परिस्थिति के मध्य हिन्दुओं का जातीयमहोत्सव इन्हीं भगवती महाशक्ति को विश्वजगती के इसी सर्वायवशोभित महिममण्डित परिपूर्ण स्वरूप को चाक्षुष दृष्टि की प्रत्यक्षभूता मनोनयनानन्दकरी सर्वचित्ताकर्षिणी मूर्ति में हमारे घर घर में उपस्थित करके इशोपनिषद् का सुमहान् आदर्शन विश्व मानव के समक्ष प्रचार करता है।